धर्म-निरपेक्ष भारत में इस्लाम

मुशीर-उल-हक़

अनुवादक
मुनीश सक्सेना

अपने गुरुवर
प्रोफ़ेसर विलफ़्रेड कैंटवेल स्मिथ को

क्रम

आभार

इंडियन इंस्टीच्यूट ऑफ एडवान्स्ड स्टडीज़, शिमला मे तथा उसके बाहर से इस पुस्तक के लेखन में मुझे जिन-जिन से सहायता मिली है, उनका धन्यवाद करना मेरा सुखद कर्तव्य है। अपने साथी डॉ० सतीश सब्बरवाल का मैं विशेषत: ऋणी हूँ—उन्होंने इस प्रबन्ध के पहले मसविदे को पढ़ा और मूल्यवान सुझाव पेश किये। मैं डॉ० एस० आबिद हुसैन का भी आभारी हूँ कि अपनी अनेकानेक व्यस्तताओं में इसके अन्तिम प्रारूप को पढ़ने की उन्होंने तकलीफ़ गवारा की। मौलाना मिराज-उल-हक़, जो कि देवबन्द के दारुल-उलूम के वाइस प्रिंसिपल है, मौलाना मुहम्मद रबी नदवी (दारुल-उलूम नदवतुल-उलमा) और डॉ० मुहम्मद नजातुल्लाह सिद्दीक़ी (अलीगढ मुस्लिम यूनिवर्सिटी) के प्रति इस अध्ययन के वास्ते विशेष सामग्री भेजने के लिए धन्यवाद।

यह कहना अनावश्यक है कि इन महानुभावो मे से किसी पर भी इस पुस्तक में दिये गये तथ्यों की व्याख्या अथवा विचारों का दायित्व नही आता; यदि कही जरूरी हो तो केवल लेखक यही कह सकता है : 'यदि मेरी पुस्तक किसी धार्मिक आस्था को गलत ढंग से व्याख्यायित करती है तो खुदा मुझे बख्शें, और यदि उस आस्था की बेहतर समझ में इससे मदद मिलती है तो—इसका श्रेय केवल खुदा को ही है।'

मुशीर-उल-हक़

भूमिका

धर्म-निरपेक्ष भारत में इस्लाम का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करना इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं है। इसका लक्ष्य केवल यह पता लगाना है कि धर्म-निरपेक्षीकरण की शक्तियों के प्रति भारतीय मुसलमानों का रवैया क्या है।

भारतीय मुसलमानों के एक छोटे-से हिस्से को छोड़कर उनका बहुमत कदापि 'धर्म-निरपेक्ष' नहीं है; वे 'धर्म-परायण' हैं, इस अर्थ में कि सांसारिक जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण को निर्धारित करने में अधिकांश मुसलमान धर्म को ही अपना मार्गदर्शक मानते हैं।

इस वर्तमान परिस्थिति के लिए अलग-अलग लोग अलग-अलग कारण बतायेंगे : कुछ लोग कहेंगे कि मुसलमानों का आर्थिक पिछड़ापन ही उन्हें धर्म-निरपेक्षीकरण के आन्दोलन से अलग रखता है; कुछ लोग यह तर्क देंगे कि इसका कारण भारत की वर्तमान राजनीतिक स्थिति में निहित है; कुछ अन्य लोगों को देश में व्याप्त साम्प्रदायिक द्वेष ही इसका मूल कारण लगता है। ये सब कारण इसमें योग भले ही देते हों पर इस्लाम के बारे में मुसलमानों की धारणा ही धर्म-निरपेक्षीकरण के प्रति उनके विरोध का मुख्य कारण प्रतीत होती है। वे समझते हैं कि उनका धर्म लौकिक जीवन के स्वतन्त्र अस्तित्व को, जोकि धर्म-निरपेक्षता का आधार है, स्वीकार करने का निषेध करता है।

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय जनता ने शायद अपने इतिहास में पहली बार यह निश्चय किया कि उसका धर्म और उसकी राजनीति जीवन के दो अलग-अलग क्षेत्र होंगे। हो सकता है कि भारत के अन्य धार्मिक सम्प्रदायों के लिए *राजनीति को धर्म से अलग करना इतना मूलभूत परिवर्तन न रहा हो*, पर मुसलमानों के लिए यह प्रचलित व्यवहार की दिशा को बिलकुल ही दूसरी दिशा में मोड़ देने के बराबर था।

व्यवहार से अलग भी, स्वयं इस्लामी विचारधारा में धर्म और राजनीति परस्पर इस तरह गुँथे हुए हैं कि उनकी अलग-अलग कल्पना ही नहीं की जा

सकती। पर परिस्थितियों का प्रभाव ऐसा था कि पिछले कुछ समय से मुस्लिम समाज के धार्मिक नेताओं, अर्थात् उलमाओं को भी इस बात पर सहमत होना पड़ा कि धार्मिक बातो को राजनीति के क्षेत्र से अलग रखा जाय।

धर्म पर मुसलमानों की परम्परागत निर्भरता को देखते हुए शायद यह अवसर उन्हें धर्म-निरपेक्षीकरण की दिशा मे प्रवृत्त करने के लिए अनुकूल था, पर ऐसा लगता है कि भारत के राजनीतिक और बौद्धिक नेताओं के पास इसके लिए कोई सुव्यवस्थित कार्यक्रम नही था। जनमत का लगभग हर नेता अपनी सारी शक्ति धर्म-निरपेक्षता की बातें करने में ही व्यय कर देता था, उसको व्यवहार मे सशक्त करने के लिए कुछ भी नही करता था।

इस प्रकार धर्म-निरपेक्षता एक अस्पष्ट-सा ध्येय मात्र रह गया; और प्रत्येक व्यक्ति अपनी शैक्षिक, धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक पृष्ठभूमि के अनुसार उसकी व्याख्या करने के लिए उन्मुक्त था। वास्तव मे, धर्म-निरपेक्षता और धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध को केवल द्वेष अथवा उदासीनता के प्रसंग में देखा जाता था, जिसका निर्धारण बहुत बड़ी हद तक इस बात से होता था कि इन शब्दो को प्रयोग करने वाले व्यक्ति की पृष्ठभूमि क्या है।

2

कुछ गड़बड़ी शब्दार्थ के कारण भी थी; 'सेक्यूलरिज्म' एक अ-भारतीय शब्द था और भारतीय जनता इस कल्पना से भी परिचित नही थी। दूसरी भारतीय भाषाओं मे जो कुछ हुआ वह ध्यान देने योग्य है; उर्दू मे, जोकि भारतीय मुसलमानों की सार्वत्रिक भाषा है, इस शब्द का अनुवाद हमेशा ला-दीनियत या ग़ैर-मज़हबियत किया जाता था, जिसका अर्थ होता है 'अ-धर्म'। इस प्रकार जब भी अंग्रेज़ी के किसी ऐसे वाक्य का अनुवाद, जिसमें 'सेक्यूलर' शब्द का प्रयोग किसी भी रूप मे किया गया हो, उर्दू में किया जाता था तो उसका भाव अरुचिकर हो जाता था। उदाहरण के लिए एक शीर्षक था : 'सेक्यूलर ट्रेंड्स इन कन्टेंपोरेरी मुस्लिम थॉट', अर्थात् समकालीन मुस्लिम विचारधारा मे धर्म-निरपेक्ष प्रवृत्तियाँ[1]; उर्दू मे इसका अनुवाद किया गया 'मुस्लिम जेहन पर ला-दीनी असरात मौजूदा जमाने में'[2], जिसका अर्थ है 'आधुनिक मुस्लिम विचार पर अ-धर्मी प्रभाव'। इस प्रसंग मे इस लेख का उर्दू सार पढ़ने में बहुत अजीब लगता है। मूल लेख में सर सैयद और मोहसिन-उल-मुल्क, सैयद अमीर अली आदि उनके दूसरे साथियों के अलावा शाह वली उल्लाह, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, मौलाना सैयद सुलेमान नदवी और मौलाना उबैदुल्लाह सिंधी को 'धर्म-

निरपेक्ष' प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि बताया गया था। हम लेखक से इस बात पर भले ही असहमत हों कि शाह वली उल्लाह को सर सैयद के साथ या मौलाना आजाद को अमीर अली के साथ क्यों नत्थी किया गया; लेकिन 'सेक्यूलर' शब्द का अनुवाद उर्दू मे 'ला-दीनी' (अ-धर्मी) कर देने के बाद आलोचक ने अपनी टीका-टिप्पणी का अन्त बड़े तर्कसंगत ढंग से इन शब्दों मे किया : "लेखक ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि हमारे धर्म-सुधारक बड़ी तेज़ी से विधर्मी होते जा रहे थे और इस्लाम को नास्तिकता के सांचे में ढालने का प्रयत्न कर रहे थे।"[3] जो लोग इन सुधारकों के जीवन और उनकी शिक्षाओं से परिचित हैं उन्हें तो अंग्रेजी के इस लेख का उर्दू अनुवाद बहुत ही बेतुका लगेगा, पर उन लोगों को नही जिन्होंने अपने मन में यह दृढ धारणा बना ली है कि धर्म-निरपेक्षता की आड़ में भारत के इस्लामी अतीत को जान-बूझकर तोड़-मरोड़कर और ग़लत ढंग से प्रस्तुत किया जा रहा है।

3

धर्म-निरपेक्ष भारत में मुस्लिम समाज को अपनी धार्मिक विशिष्टता को बनाये रखने में उससे कही अधिक दिलचस्पी है जितनी कि आम तौर पर समझी जाती है। परम्परागत इस्लामी शिक्षा देने के लिए रुपये-पैसे और अपनी प्रशासन-व्यवस्था के मामले मे सरकारी नियन्त्रण से सर्वथा मुक्त मदरसे स्थापित करने की ओर उनकी निरन्तर बढती हुई रुचि और लगभग हर बात का निर्णय करने में धार्मिक मार्गदर्शन के लिए मदरसों के पढे हुए उलमा पर फ़तवों के माध्यम से उनकी अंधी निर्भरता इस बात का प्रमाण है कि इस समाज का धर्म से कितना अटूट सम्बन्ध है। चूंकि ये उलमा जटिलतम आधुनिक समस्याओं को सुलझाने के लिए भी बहुत पहले स्थापित की गयी कार्य-प्रणाली अपनाते है, इसलिए समाज को जो धार्मिक परामर्श मिलता है वह बहुधा निराशाजनक हद तक वस्तु-स्थिति से असंगत होता है।

यहां पर यह कह देना आवश्यक है कि मुस्लिम विरोध-भावना का दोष उलमा पर उतना नही है जितना कि उन भारतीय बुद्धिजीवियों और जनमत के कर्णधारों पर, जिन्होंने पहले तो इस समाज पर धर्म के प्रभाव को बहुत कम करके आंका, उलमा के साथ विचार-विनिमय के लिए संचार का माध्यम स्थापित करने की आवश्यकता की ओर कोई ध्यान नही दिया और इस प्रकार अपने को मुस्लिम जनसाधारण से दूर कर लिया; दूसरे, वे मुस्लिम समाज को यह नही समझा पाये कि धर्म-निरपेक्षता वास्तव में धर्म की काट नही है; और तीसरे,

उन्होंने कभी यह जानने की कोशिश नहीं की कि धर्म का मुसलमानों के लिए क्या महत्त्व है।

मुसलमान के लिए धर्म एक नैतिक दर्शन मात्र नहीं, उसके अतिरिक्त भी बहुत-कुछ है। आज धर्म उनके लिए एक 'प्रणालीबद्ध' जीवन-पद्धति है, जिसे वे 'शरीअः' (इस अरबी शब्द का समासगत रूप 'शरीअत' उर्दू में अधिक प्रचलित है—अनु०) कहते है, जिसके अनुसार इंसान अपने हर काम के लिए ख़ुदा के सामने जवाबदेह है। मनुष्य का हर काम शताब्दियों पहले बनाये गये क़ायदे-क़ानूनों के अनुसार होना चाहिए। भले ही उनमे से बहुत-से लोग शरीअः के पाबन्द रहकर अपना जीवन न बिताते हों, फिर भी वे अपनी इच्छा से किसी ऐसे सुझाव के आगे आत्म-समर्पण करना नही चाहेंगे, जिसके बारे मे उन्हें यह बताया गया हो कि वह शरीअः के विरुद्ध है।

भारतीय धर्म-निरपेक्षतावादियों ने, वे हिन्दू हों या मुसलमान, ग़लती यह की कि उन्होंने मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं को बहुत कम करके आँका और इस प्रकार ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी जिसमें रूढ़ियों में जकड़ा हुआ मुस्लिम समाज धर्म-निरपेक्षता को एक धर्म-विरोधी शक्ति समझने लगा। परिवर्तन के प्रति मुसलमानों के 'कट्टर विरोध' का कारण बहुत-कुछ हद तक यही है।

4

भारत में धर्म-निरपेक्ष राज्य-सत्ता न केवल मुसलमानों को स्वीकार्य है, बल्कि मौजूदा परिस्थितियों में, वे इसका हार्दिक स्वागत करते हैं। धर्म-निरपेक्ष राज्य-सत्ता का विचार इस ढंग से प्रस्तुत किया गया कि आम तौर पर उसका अभिप्राय एक ऐसी राज्य-सत्ता समझा गया जो धर्म के प्रति निष्पक्ष हो अर्थात् जिसमें हर सम्प्रदाय को अपने ढंग का धार्मिक जीवन व्यतीत करने की पूरी स्वतन्त्रता हो। 'धार्मिक' और 'धर्म-निरपेक्ष' की विभाजन-रेखा स्पष्ट रूप से इंगित नहीं की गयी थी और लोगों को अपनी सुविधा के अनुसार उसकी व्याख्या करने की छूट थी। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, एक आदमी के दृष्टिकोण के अनुसार विवाह और तलाक धर्म के क्षेत्र मे आते थे और दूसरे के अनुसार यह धर्म-निरपेक्षता के क्षेत्र की बातें थी। चूंकि मुसलमानों का बहुमत अब भी पारिवारिक जीवन को धार्मिक क्षेत्र की बात समझता है, इसलिए शासन-तन्त्र की ओर से उसमें तनिक भी हस्तक्षेप धर्म-निरपेक्षता-विरोधी क़दम समझा जाता है। राज्य-सत्ता धर्म-निरपेक्ष तभी तक है जब तक वह इन बातों की निष्क्रिय दर्शक रहे; पर दूसरे लोग इस उदासीनता को धर्म-निरपेक्षता का निषेध समझते हैं।

'आधुनिक' और 'धर्म-निरपेक्ष' मुसलमान भी, जिनके बारे में यह समझा जाता है कि उन्होंने अपने को शरीअः के बन्धनों से मुक्त कर लिया है, आज तक मुस्लिम विशिष्टता से, बहुधा भारतीय मुस्लिम संस्कृति के रूप में, अपना नाता नहीं तोड़ सके हैं। ऐसा लगता है कि उन्हें अपनी सांस्कृतिक और सामाजिक धरोहर को बचाये रखने की अधिक चिन्ता है। परन्तु धर्मोन्मुख मुसलमानों की तरह इन लोगों की समाज में कोई जड़ें नहीं हैं। ग़ैर-मुस्लिमों के लिए तो ये 'मुस्लिम' हैं; पर मुसलमानों के बीच वे अजनबी हैं।

इन प्रारम्भिक टिप्पणियों के बाद आइये, अब हम आगे बढ़ें।

टिप्पणियाँ

1. मोईन शाकिर, 'सेक्यूलर डेमोक्रेसी', नई दिल्ली, वार्षिक अंक, 1970, पृ० 91-94
2. अब्दुल फ़त्ताह, संपादक के नाम पत्र, साप्ताहिक, 'सिद्के-जदीद', लखनऊ, वर्ष 20, अंक 22, 1 मई, 1970, पृ० 4 और 8
3. उपर्युक्त, पृ० 8

2

धर्म-निरपेक्षता ? जी नहीं : धर्म-निरपेक्ष राज्य-सत्ता ? अच्छा, मान लेंगे

भारत के संविधान में देश को एक 'प्रभुसत्तात्मक लोकतान्त्रिक गणराज्य' की संज्ञा दी गयी है, पर उसमें 'धर्म-निरपेक्षता' का कोई उल्लेख नहीं किया गया है।[1] भारतवासी पिछली दो दशाब्दियों से धर्म-निरपेक्षता की बातें करते रहे हैं फिर भी इस शब्द का कोई स्पष्ट और निश्चित अर्थ निर्धारित नहीं हुआ है। इसलिए यह प्रश्न करना उचित ही है कि धर्म-निरपेक्षता का वास्तव में अर्थ है क्या—विशेष रूप से भारतीय प्रसंग में ?

द ऑक्सफ़ोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी (1961) की परिभाषा के अनुसार 'सेक्यूलरिज़्म' शब्द का अर्थ है : "यह सिद्धान्त कि वर्तमान जीवन में मनुष्य मात्र का कल्याण ही नैतिकता का एकमात्र आधार होना चाहिए, उसमें ईश्वर अथवा किसी भावी राज्यसत्ता के प्रति आस्था से उत्पन्न किसी धारणा के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए।" धर्म-निरपेक्षता की यह धारणा भारत के संविधान की भावना के अनुकूल नहीं होगी जिसमें प्रत्येक नागरिक को 'आत्मा की स्वतन्त्रता और धर्म पर आस्था रखने, उसका पालन और प्रचार करने की स्वतन्त्रता' दी गयी है।[2] इसके अतिरिक्त हमारे संवैधानिक आचार-व्यवहार में ईश्वर को वास्तव में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, राज्यपाल आदि के उच्च पदों के लिए शपथ लेने की जो विधि निर्धारित की गयी है उसमें ईश्वर को साक्षी जानकर शपथ लेने की अनुमति है। यह सच है कि इसे अनिवार्य नहीं बनाया गया है : पद ग्रहण करने वाला संविधान के प्रति अपनी आस्था की 'गम्भीरतापूर्वक घोषणा' कर सकता है। पर ये विकल्प जिस क्रम से दिये गये हैं उसमें ईश्वर को साक्षी जानकर शपथ लेने वाला विकल्प गम्भीरतापूर्वक घोषणा करने वाले विकल्प से पहले आता है।[3] यह बात शब्दकोष में दी हुई 'सेक्यूलरिज़्म' की परिभाषा के प्रतिकूल है जिसमें ईश्वर के किसी भी उल्लेख के लिए स्थान नहीं है। ईश्वर में आस्था रखे बिना

कोई भी व्यक्ति उसे साक्षी जानकर ईमानदारी और सच्चाई के साथ कैसे शपथ ले सकता है ?

2

अनेक भारतीयों ने भारतीय राज्य-सत्ता की नीति के रूप में धर्म-निरपेक्षता की परिभाषा इस ढंग से की है कि उसमे 'ईश्वर के प्रति आस्था' को न तो अस्वीकार किया गया है और न ही उसे कोई नगण्य स्थान दिया गया है। उदाहरण के लिए श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का दृढ़ कथन है कि धर्म-निरपेक्षता का 'अर्थ न अधर्म है, न नास्तिकता, न ही उसका अर्थ है भौतिक सुख-सुविधा पर बल देना। इस सिद्धान्त में केवल आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले मूल्यों की सार्वत्रिकता पर बल दिया गया है जिन्हें प्राप्त करने के मार्ग विभिन्न हैं।'[4] शब्दकोष में 'सेक्यूलरिज्म' का जो अर्थ दिया गया है उसका उल्लेख करते हुए प्रख्यात क़ानून-विद् श्री पी० बी० गजेन्द्र गडकर कहते हैं : "इस बात पर बल देना आवश्यक है कि भारतीय धर्म-निरपेक्षता इस नकारात्मक कोटि में नही आती। वास्तव में भारतीय धर्म-निरपेक्षता मानव-जीवन मे धर्म की उपयोगिता और सार्थकता दोनों ही को स्वीकार करती है।...संविधान के प्रसंग में धर्म-निरपेक्षता का अर्थ यह है कि भारत मे जिन धर्मों का पालन किया जाता है उन सभी को समान स्वतन्त्रता और संरक्षण का अधिकार प्राप्त है।"[5]

बहुत-से मुसलमान भी धर्म-निरपेक्षता का यही अर्थ समझते हैं। उदाहरण के लिए सैयद आबिद हुसैन 'धर्म-निरपेक्षता और वैज्ञानिक मनोवृत्ति' के विषय में लिखते हैं :

> हमारे देश के लोगों में, और विशेष रूप से मुसलमानों मे, धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण या धर्म-निरपेक्षता के बारे में बहुत गहरी भ्रान्त धारणाएँ हैं। वे इसका अर्थ यह समझते हैं कि यह एक ऐसी मनोवृत्ति है जो जीवन के एक सर्वोच्च मूल्य के रूप मे धर्म को सर्वथा अस्वीकार करती है। पर वास्तव में धर्म-निरपेक्षता आवश्यक रूप से न तो धर्म की विरोधी है न उसके प्रति उदासीन ही।[6]

एक अन्य मुसलमान के अनुसार, धर्म-निरपेक्षता "केवल ऐसी विचार-प्रवृत्ति का नाम है जो प्रत्येक आध्यात्मिक सिद्धान्त अथवा धार्मिक पंथ के साथ इसलिए मेल खाती है कि ये सिद्धान्त अथवा पंथ मनुष्य को उसके इस अधिकार से वंचित

नहीं करते कि वह अपने पार्थिव अस्तित्व की समस्याओं का समाधान अपनी समझ के अनुसार और मानव-सुख के सिद्धान्त को मार्गदर्शक मानकर करे।"[7]

ऐसा तो नहीं है कि हर भारतवासी धर्म-निरपेक्षता की परिभाषा इसी ढंग से करता हो लेकिन आम तौर पर उनका मत यही है कि धर्म-निरपेक्षता के लिए आवश्यक नहीं है कि उसमें मनुष्य को अपनी पसन्द के किसी भी धर्म पर आस्था रखने और उसका प्रचार तथा पालन करने से रोका जाय। यह मान लेना कि धर्म-निरपेक्षता का अस्तित्व धर्म के साथ भी रह सकता है, तर्कसंगत हो या न हो, पर यह मत बहुत व्यापक है और इससे हमें यह समझने में सहायता मिलती है कि भारतवासियों ने धर्म-निरपेक्ष राज्य-सत्ता के विचार का स्वागत क्यों किया है।

यह याद रखना चाहिए कि जब भारत स्वतन्त्र हुआ उस समय भारतीय संविधान के रचयिताओं के सामने इसके अतिरिक्त शायद कोई दूसरा रास्ता ही नहीं था कि वे धर्म-निरपेक्षता को अपना मार्गदर्शक बनायें। स्वतन्त्रता आन्दोलन के नेता अ-साम्प्रदायिक और अ-धार्मिक नीति के पक्ष में इतने दृढ़ रूप से वचन-बद्ध थे कि देश के बँटवारे के बाद भी वे अपने इस रवैये से विमुख नहीं हो सकते थे। भारत के मुस्लिम समाज ने भी धर्म-निरपेक्ष राज्य-सत्ता का स्वागत इसलिए किया कि उसे डर था कि दूसरा रास्ता 'हिन्दू राज्य' का है।[8] स्वाभाविक ही था कि मुसलमानों में इक्का-दुक्का आवाजें धर्म-निरपेक्ष राज्य-सत्ता के विरुद्ध भी उठतीं; उदाहरण के लिए देश के बँटवारे से पहले कहा गया :

> अब यह यकीनी जान पड़ता है कि मुल्क दो हिस्सों में बँट जायगा। एक हिस्सा मुसलमानों को दे दिया जायगा और दूसरे पर ग़ैर-मुस्लिमों का अधिकार रहेगा। पहले वाले हिस्से में हम जनमत को इस बात के पक्ष में संगठित करने की कोशिश करेंगे कि वहाँ का संविधान इस्लामी कानूनों पर आधारित हो। दूसरे हिस्से में हमारा अल्पमत होगा और आप (हिन्दू) बहुमत में होंगे। हमारी आपसे यही प्रार्थना है कि आप रामचन्द्र, कृष्ण, बुद्ध, गुरु नानक और दूसरे सन्त-महात्माओं की जीवनियों और उनकी शिक्षाओं का अध्ययन करें। कृपा करके वेदों, पुराणों, शास्त्रों और दूसरे ग्रन्थों को पढ़ें। अगर आपको इनसे कोई दिव्य मार्गदर्शन प्राप्त हो सके, तो हम आपसे यही कहेंगे कि आप अपना संविधान इसी मार्गदर्शन के आधार पर बनाइये।...पर अगर आपको अपने इन स्रोतों में कोई विस्तृत मार्गदर्शन न मिल सके तो इसका यह अर्थ नहीं है कि भगवान ने आपको यह कभी दिया ही नहीं था। इसका मतलब बस इतना है कि आपने अपने लम्बे इतिहास के उतार-चढ़ावों के दौरान इसे सारे-का-सारा

या इसका कुछ हिस्सा कहीं खो दिया है। हम आपके सामने उसी खुदा की दी हुई वही रहनुमाई पेश करते हैं। इसे स्वीकार करने में संकोच न कीजिये। यह आपकी ही खोई हुई दौलत है जो आपको एक दूसरे रास्ते से मिल रही है। इसे पहचानिये। इसे परखकर देखिये और आप खुद इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि इसी रास्ते पर चलने में आपकी और सारी दुनिया की भलाई है।[9]

ये शब्द थे मौलाना अबुल-अला मौदूदी के जो कुछ ही दिन बाद पाकिस्तान चले गये थे।[10]

पूरे स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान शायद ही कोई राष्ट्रवादी नेता ऐसा होगा जिसने धर्म के महत्त्व के बारे में कोई शंका प्रकट की हो। हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही सम्प्रदायों के नेता अपने भाषणों और लेखों में राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बहुधा धार्मिक शब्दावली का ही प्रयोग करते थे।[11] हिन्दू समाज के बारे मे तो हम यह कह सकते हैं कि उसके लिए धर्म-सिद्धान्तों का कोई व्यवस्थित और संहिताबद्ध समूह नहीं था, बल्कि धर्म को उच्चतर नैतिक मूल्यों के रूप में ही समझा जाता था।[12] पर मुसलमानों के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती। उनके लिए धर्म नैतिक मूल्यों तक ही सीमित नहीं था; उनके लिए धर्म का अर्थ था शरीअः, एक प्रणाली, एक व्यवस्था। यह बात मुसलमानों के मन में बिठा दी गयी थी।

3

सवाल यह उठता है कि भारत के मुस्लिम समाज ने धर्म-निरपेक्षता को एक आस्था के रूप में स्वीकार किया था या केवल एक सुविधाजनक नीति के रूप में ?

इस सवाल का जवाब तब तक पूरी तरह नहीं दिया जा सकता जब तक कि हम धर्म के अर्थ के बारे में सहमत न हों। शब्दकोश के अनुसार धर्म का अर्थ है मनुष्य का मानवोपरि नियन्त्रक शक्ति को स्वीकार करना, विशेष रूप से अपने ईश्वर को जिसका वह आज्ञाकारी रहे। यहाँ तक तो ठीक है। पर बुनियादी सवाल यह है कि मानव-जीवन में इस 'स्वीकृति' और इस 'आज्ञापालन' की अभिव्यक्ति किस रूप में होगी ? क्या ये निजी आस्था की बातें हैं या इनका सम्बन्ध मनुष्य के कर्मों और सामाजिक सम्बन्धों से भी है ? जो लोग धर्म को केवल एक निजी आस्था की बात और नैतिक मूल्यों की रक्षा का साधन मानते

हैं वे शायद यह कहेंगे कि धर्म-निरपेक्षता को एक आस्था के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि "भारतीय धर्म-निरपेक्षता का मूल दर्शन इस युगों पुरानी भारतीय आस्था के साथ पूरी तरह मेल खाता है कि सत्य एक है; परन्तु इस सत्य के पक्ष अनेक हैं और इसलिए ज्ञानी उसका वर्णन अलग-अलग ढंग से करते हैं।"[13] लेकिन धर्म-निरपेक्षता के प्रति, और धर्म के प्रति भी, यह रवैया दार्शनिक है; यह तभी तक सार्थक है जब तक धर्म की परिभाषा यह की जाय कि वह केवल आस्था और मनुष्य तथा मानवोपरि शक्ति के बीच वैयक्तिक सम्बन्ध की बात है और उसे इसी रूप में समझा भी जाय, परन्तु उस दशा में नहीं जबकि धर्म सभी लोगों से सम्बन्ध रखने वाली एक प्रणाली, एक संस्था बन जाय। विश्व के धर्मों का इतिहास हमें बताता है कि अपने ऐतिहासिक विकास के दौरान शायद ही कोई धर्म ऐसा होगा जो केवल निजी आस्था की बात रह पाया हो।[14] कम-से-कम इस्लाम तो नहीं रह पाया। अरबी के इस्लाम शब्द का अर्थ अब केवल 'नमन' नहीं समझा जाता जोकि उसका मूल अर्थ है; अब वह केवल आस्था ('ईमान') भी नहीं है; अब उसका अर्थ है एक 'व्यवस्था', एक प्रणाली।[15] समय की गति के साथ 'निजी आस्था' का धीरे-धीरे 'प्रणालीबद्ध' धर्म का रूप धारण कर लेना एक ऐसी प्रक्रिया है जो सभी धर्मों पर समान रूप से लागू होती है।[16]

भले ही किसी को इतिहास की गति के साथ-साथ एक आस्था का इस प्रकार एक प्रणाली या पद्धति का रूप धारण कर लेना अच्छा न लगे, पर इससे हमारे विषय का कोई सम्बन्ध नहीं है। सच तो यह है कि आज अधिकांश भारतीय मुसलमानों के लिए 'धर्म' एक 'दर्शन', एक 'रवैया' या एक 'मूल्य' मात्र नहीं रह गया है; वह एक ऐसी चीज़ है जो इस दुनिया में उनके जीवन और उनकी आक़बत (आगामी लोक) दोनों ही का निर्धारण करती है। बहुत से मुसलमानों के लिए इस अर्थ में धर्म का उस प्रकार की धर्म-निरपेक्षता से कोई मेल नहीं है जिसमें धर्म से उसका सत्तात्मक लक्षण छीन लिया गया हो। उनकी दृष्टि में धर्म से उसका न्याय-स्थान छीनना एक प्रतिगामी बात है।[17]

उन लोगों के लिए जो धर्म और धर्म-निरपेक्षता को परस्पर असंगत मानते हुए *भी इस बात के पक्ष में हैं कि भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य रहे, वे केवल राजनीतिक सुविधा के कारण ही ऐसा करते हैं।* उदाहरण के लिए, जमाअते-इस्लामी (हिन्द) ने इसके बारे में अपने विचार बहुत स्पष्ट रूप से इस प्रकार व्यक्त किये हैं :

> सरकार की नीति के रूप में धर्म-निरपेक्षता का कोई विरोध नहीं किया जा सकता, जिसका अर्थ यह है कि धार्मिक आस्थाओं के आधार पर

किसी के साथ कोई भेदभाव या पक्षपात नही बरता जायगा। जमाअ्रत ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वर्तमान परिस्थितियो में वह चाहती है कि सरकार का धर्म-निरपेक्ष रूप बना रहे।...परन्तु अगर कुछ लोग इस उपयोगजनित व्यावहारिक सुविधा से आगे भी इसका कोई गहरा दार्शनिक अर्थ अपने विचार में रखते हैं तो उनसे हमारा मतभेद है। ये दार्शनिक व्याख्याएँ मूलतः पश्चिमी देशों में उत्पन्न हुई है और उनके साथ ऐसी भावना और ऐसा इतिहास जुड़ा हुआ है जिसका हमारे स्वभाव और हमारी *आवश्यकताओं से कोई सम्बन्ध नही है।*[18]

परन्तु यह दोरुखा रवैया अकेले जमाअ्रत का ही नही है, भारत के अधिकांश उलमा भी इसी से सहमत हैं। उनमे से बहुतों का विश्वास है कि राज्यसत्ता को तो धर्म-निरपेक्ष रहना चाहिये पर मुसलमानो को उस धर्म-निरपेक्षता से बचाकर रखा जाना चाहिए।[19]

4

जो मुसलमान धर्म-निरपेक्ष राज्यसत्ता का तो समर्थन करते हैं पर अनिवार्यतः धर्म-निरपेक्षता के आदर्श का विरोध करते हैं, क्या वे मक्कार या इस्लामी शब्दावली के अनुसार 'मुनाफ़िक़' है ? जी नहीं, कदापि नही। उनकी दृष्टि में, धर्म-निरपेक्षता और धर्म-निरपेक्ष राज्यसत्ता दो सर्वथा भिन्न बातें हैं। उनका विश्वास है कि धर्म-निरपेक्षता एक ऐसी दार्शनिक विचारधारा है जो धर्म की विरोधी है, और धर्म-निरपेक्ष राज्यसत्ता एक ऐसी राजनीतिक संस्था है जो अपने नागरिकों के लिए धार्मिक स्वतन्त्रता का आश्वासन करती है।

पूरी ईमानदारी के साथ भारतीय उलमा भारत की धर्म-निरपेक्ष राज्यसत्ता और उस प्रथम इस्लामी राज्यसत्ता के बीच एक समानता पाते है जो उनके विश्वास के अनुसार 622 ई० में पैग़म्बर मुहम्मद ने मदीने मे स्थापित की थी। *रवायत यह है कि पैगम्बर मुहम्मद ने मदीने के यहूदियों के साथ एक समझौता,* एक मुआहिदा किया था कि मदीने के दोनों धार्मिक सम्प्रदाय, मुसलमान और यहूदी, अरब काफिरों के हमले के खिलाफ मिलकर अपने नगर की रक्षा करेंगे और उसके बाद अपने-अपने ढंग का धार्मिक जीवन व्यतीत करेंगे। उसी मुआहिदे से संकेत लेकर मुस्लिम समाज के धार्मिक-राजनीतिक नेताओं ने भारतीय संविधान की व्याख्या इस रूप में की कि वह भारत के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के बीच एक संविदा, एक मुआहिदा है। यही धर्म-निरपेक्ष राज्यसत्ता के औचित्य

का आधार है। पर जो बात इन नेताओं ने नही समझी वह यह थी कि पैग़म्बर मुहम्मद और मदीने के यहूदियों के बीच जो मुआहिदा हुआ था और भारत के मुसलमानों और हिन्दुओं का 'मुआहिदा', अगर हम उसे मुआहिदा मान भी लें, एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है। मदीने वाले मुआहिदे में अन्तिम और निर्णायक अधिकार केवल पैग़म्बर के हाथों में था। कोई मतभेद होने पर निर्णय उन्ही को देना था जिसका न कोई विरोध कर सकता था और जो न वापस लिया जा सकता था। लेकिन भारतीय 'मुआहिदे' में यह बात नही है। भारत एक लोकतान्त्रिक देश है और लोकतन्त्र में 'मतो' को 'गिना' जाता है 'तोला' नही जाता।*

यह नही मान लिया जाना चाहिए कि मुसलमानों के धार्मिक-राजनीतिक नेताओ ने धर्म-निरपेक्ष राज्यसत्ता के प्रति अपने रवैये को संगत ठहराने के लिए ही 1947 के बाद पहली बार मदीने वाले इस मुआहिदे पर ज़ोर देना शुरू किया; सच तो यह है कि इससे पहले वाले दौर में भी मुस्लिम राजनीति में इस 'मुआहिदे' का बहुत चर्चा रहा। 'राष्ट्रवादी' उलमा, जो अविभक्त स्वतन्त्र भारत के लिए लड़े थे, अंग्रेज़ों के खिलाफ़ हिन्दुओं के साथ सहयोग करने के अपने तर्क को बल पहुँचाने के लिए हमेशा संकट के समय में इस मुआहिदे का सहारा लेते थे।[20] लेकिन जो उलमा उनके विरोधी थे वे भी इन राष्ट्रवादी उलमा के तर्क का खण्डन करने के लिए इसी मुआहिदे का सहारा लेते थे। उनका तर्क यह था कि पैग़म्बर ने यहूदियो के साथ 'मुआहिदा' किया था जो अहले-किताब थे। और चूंकि हिन्दुओं को अहले-किताब नही माना गया है इसलिए उनके साथ कोई भी समझौता सम्भव नही है।[21] विभाजन के बाद की राजनीतिक परिस्थिति मे, जो लोग पहले हिन्दुओं के साथ राजनीतिक सहयोग का विरोध करते थे वे या तो पाकिस्तान चले गये और जो नही जा सकें वे उन लोगों से टक्कर लेने की स्थिति मे नही थे जो यह कहते थे कि हिन्दुओं के साथ राजनीतिक समझौता करके वे पैग़म्बर के ही पद-चिह्नों का अनुसरण कर रहे हैं। संविधान तैयार होने के दौरान 'राष्ट्रवादी' उलमा ने यह सूत्र प्रस्तुत किया कि स्वतन्त्रता के बाद से मुसलमानों और ग़ैर-मुस्लिमों के बीच एक धर्म-निरपेक्ष राज्यसत्ता की स्थापना के बारे मे आपस में एक मुआहिदा हो चुका है।[22] इसमें कोई कुतर्क नही है।

हम हद से हद यह कह सकते हैं कि विज्ञान और टेकनालॉजी के इस युग में भी भारतीय उलमा अभी तक एक ऐसी शब्दावली का प्रयोग करना पसन्द

*संकेत इक़बाल के इस प्रसिद्ध शेर की ओर है :

जम्हूरियत इक तर्ज़े-हुकूमत है कि जिसमे
बन्दों को गिना करते हैं तोला नही करते। —अनु०

करते हैं जो एक बीते हुए युग की भाषा है और वे यह भी नहीं समझते कि अब यह भाषा बेकार पड़ चुकी है। सच तो यह है कि बहुत-से उलमा, शायद अपनी रूढ़िबद्ध शिक्षा-दीक्षा के कारण, अब भी धर्म-निरपेक्ष राज्यसत्ता के औचित्य को उन मध्ययुगीन इस्लामी राजनीतिक सिद्धान्तों की कसौटी पर परखने की कोशिश करते हैं जिनके अनुसार सारी दुनिया को दो भागों मे बाँट दिया गया था, एक दारुल इस्लाम और दूसरा दारुल-हर्ब।[23] यह बात कुछ विचित्र तो अवश्य लगती है कि अब भी भारतीय उलमा और उनके बहुत-से अनुयायी अपनी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक गतिविधियों को धर्म की दृष्टि से जाँचने की कोशिश करते हैं, पर यह है सच और इसका कारण यह है कि वे शरीअ: को आधार मानते हैं।

5

'शरीअ.' (जिसका अर्थ है 'मार्ग' या 'पंथ' और आम तौर पर जिसका अनुवाद 'इस्लामी कानून' किया जाता है) के बारे मे आम मुसलमानों की यह धारणा है कि वह "इस्लामी जीवन-पद्धति है, जिसमे आस्थाएँ, धार्मिक आचार, रीति-रिवाज, सार्वजनिक और वैयक्तिक क़ानून सभी कुछ शामिल है, यहाँ तक कि उसके अन्दर पहनावे, रहन-सहन, वेश-भूषा और सामाजिक आचार-व्यवहार के नियमों को भी समेट लिया गया है।"[24] किसी को शरीअ: की इस व्याख्या से मतभेद भले ही हो, पर उसकी व्याख्या उसके शाब्दिक अर्थ या उसकी उत्पत्ति के अनुसार करना हास्यास्पद होगा। जिस प्रकार की विवेचना हम कर रहे है उसमे इस बात को ध्यान में रखना हमेशा उपयोगी होता है कि किसी भी शब्द के स्रोत और उसके सामाजिक आशय में बहुत बड़ा अन्तर होता है। इस गवेषणा के आधार पर कि किन-किन परिवर्तनों के बाद शरीअ: का शब्द, जिसका अर्थ केवल 'मार्ग' होता था, एकमात्र जीवन-मार्ग के अर्थ में प्रयोग किया जाने लगा, एक बहुत उपयोगी शोध-निबन्ध लिखा जा सकता है पर उससे हमारी जटिल समस्या की गुत्थियों को सुलझाने मे कोई सहायता नहीं मिलेगी।[25] इसलिए अच्छा यही होगा कि आम तौर पर भारतीय मुसलमान शरीअ: का जो अर्थ समझते है उसी पर हम सन्तोष कर लें।

आम तौर पर भारतीय मुसलमानों का यह मत है कि एक अक़ीदे या आस्था के रूप मे इस्लाम को शरीअ: से अलग नहीं किया जा सकता जो उस 'आस्था की व्यावहारिक अभिव्यक्ति' है। आस्था का प्रदर्शन व्यवहार में होना चाहिए। और यह व्यवहार उन क़ायदे-क़ानूनों के सर्वथा अनुकूल होना चाहिए जो फ़ुक़हा (क़ानून-विदों) ने इस्लाम के स्वर्ण-युग में मुख्यतः कुरान और पैग़म्बर

की डाली हुई परम्पराओं (सुन्नते-रसूल) के आधार पर बनाये थे। इसलिए जीवन के किसी भी अंग को शरीअः की परिधि के बाहर नहीं समझा जाता और उसके उल्लंघन को 'जुर्म' (अपराध) भी माना जाता है और 'गुनाह' (पाप) भी।[26]

इस प्रकार धर्म-निरपेक्षता और धर्म-निरपेक्ष राज्यसत्ता को शरीअः के आधार पर ही स्वीकार या अस्वीकार किया जा सकता है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं इस्लामी इतिहास में पहले भी धर्म-निरपेक्ष राज्यसत्ता के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं और इसलिए वह स्वीकार्य है, परन्तु एक सिद्धान्त के रूप में धर्म-निरपेक्षता को इस्लाम से असंगत माना जाता है। चूँकि अभी तक भारतीय मुसलमानों को यह समझाने का गम्भीरता से कोई प्रयास नहीं किया गया है—जैसा कि तुर्की में किया गया है[27]—कि 'सेक्यूलरिज़म' एक विदेशी शब्द है और इस्लामी समाज में इसकी व्याख्या ईसाई समाज में समझे जाने वाले इसके अर्थ से सर्वथा भिन्न रूप में की जा सकती है, इसलिए स्वाभाविक रूप से आज परिस्थिति यह है कि भारतीय मुस्लिम 'सेक्यूलरिज़म' के अर्थ की खोज में अँधेरे में भटक रहे है।

6

वर्तमान परिस्थितियों में धर्म-निरपेक्षता के प्रश्न पर हम मुसलमानों को तीन दलों में बँटा हुआ पाते हैं। एक तो वे जो धर्म-निरपेक्षता को सिरे से ही अस्वीकार करते हैं और उसे 'ला-मज़हबियत' और 'कुफ़्र' का दर्जा देते हैं।[28] दूसरी श्रेणी में वे मुसलमान आते हैं जिन्हें आम तौर पर 'आधुनिकतावादी' और 'धर्म-निरपेक्षतावादी' कहा जाता है। उनके अनुसार धर्म-निरपेक्षता ला-मज़हबियत नहीं है। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि इस वर्ग का आम मुसलमानों के साथ अधिक सम्पर्क नहीं है। उनके बारे में शक यह किया जाता है कि वे शरीअः का उतना 'एहतराम' (सम्मान) नहीं करते जितना कि आम धारणा के अनुसार एक मुसलमान को करना चाहिए। वे पाठकों और श्रोताओं के अधिक विस्तृत और 'मिले-जुले' वर्ग की सुविधा के लिए बहुधा अपने विचार अंग्रेजी में ही व्यक्त करना पसन्द करते हैं; जब भी वे अपने विचार, विशेष रूप से धार्मिक समस्याओं के बारे में, उर्दू में व्यक्त करने की कोशिश करते हैं, तो उलमा को उनके लेख 'तर्करहित' और बहुधा 'दूसरों के प्रेरित किये हुए' लगते हैं।[29]

तीसरी कोटि में अधिकांश उलमा और मुस्लिम जन-साधारण आते हैं।

वे धर्म-निरपेक्षता को वहीं तक स्वीकार करते हैं जहाँ तक वह धर्म के क्षेत्र में राज्यसत्ता की निष्पक्षता को व्यक्त करती है। वे दूसरी कोटि के लोगों के आरोपित शरीअ:-विरोधी रवैये के कारण उनका पर्दा फाश करने और उनकी निन्दा करने के लिए हमेशा बहुत मुस्तैद और बेचैन रहते हैं। चूंकि किसी भी चीज़ को शरीअ: की परिधि से बाहर नहीं समझा जाता इसलिए धर्म-निरपेक्षता के नाम पर शरीअ: के महत्त्व को घटाने की हर कोशिश पर तीव्र असन्तोष प्रकट किया जाता है। उदाहरण के लिए, एक बार सेक्यूलर फ़ोरम (दिल्ली) के अध्यक्ष मीर मुश्ताक अहमद ने कहा था कि धर्म-निरपेक्षता का मतलब है ससार के सभी धर्मों के प्रति 'सकारात्मक सम्मान' (मुरव्वत-एहतराम) का रवैया।[30] इस पर दिल्ली की जमीअते-उलमा के मौलाना अख़लाक अहमद क़ासिमी ने उनकी अच्छी तरह ख़बर ली। उनके अनुसार धर्म-निरपेक्षता की व्याख्या 'सम्मान' के आधार पर नहीं बल्कि 'सहिष्णुता' के आधार पर की जानी चाहिए। वह कहते हैं :

> सकारात्मक सम्मान गतिहीनता को ही जन्म दे सकता है। दो सर्वथा विरोधी दृष्टिकोण एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता तो बरत सकते हैं पर उनसे एक-दूसरे का सम्मान करने की आशा नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए, किसी मानवतावादी से उन लोगों का सम्मान करने के लिए कैसे कहा जा सकता है जो विभिन्न मनुष्यों के बीच उनके जन्म की परिस्थितियों के आधार पर भेद-भाव बरतते हैं ? हम जानते हैं कि जो लोग निजी स्वामित्व के पक्ष में हैं वे पूरी सच्चाई के साथ उन लोगों का सम्मान नहीं कर सकते जो सामूहिक स्वामित्व में विश्वास रखते हैं। यह बात सभी क्षेत्रों में सार्थक है और धर्म भी उन्हीं में से एक है।[31]

ऊपर से देखने में भले ही ऐसा लगता हो कि इन दो परस्पर-विरोधी विचारों का अन्तर केवल शब्दों का खेल है, पर वास्तव में ऐसा है नहीं। सम्मान निश्चित रूप से सहिष्णुता मात्र से इस दृष्टि से भिन्न है कि सम्मान में यह आशय निहित है कि हम दूसरे पक्ष के दृष्टिकोण को उचित स्थान देने को तैयार हैं और अपने दुराग्रहों और पूर्वाग्रहों पर फिर से विचार करने और उनमें सुधार करने को तत्पर हैं। दूसरी ओर सहिष्णुता कहीं अधिक निष्क्रिय और केवल उपयोगिता और सुविधा की बात है। सहिष्णुता देश और काल की सीमाओं में जकड़ी हुई है। उसके लिए गहरा लगाव आवश्यक नहीं है। हम उदासीन रहकर भी दूसरों के प्रति सहिष्णु रह सकते हैं—पर इसे सम्मान तो नहीं कहा जा सकता। मुसलमानों के विचारों के संघर्ष का कुल निचोड़ इसी तर्क में मूर्त्त है।

जो लोग सभी धर्मों के प्रति सम्मान प्रकट करते हैं, स्पष्टतः उनका अभिप्राय यह होता है कि सभी धर्म सच्चे हैं और हम उनमे से किसी का भी अनुसरण करके 'परम सत्य' तक पहुँच सकते हैं। यह बात उन मुसलमानों को कभी स्वीकार्य नही हो सकती जिनको शरीयः मे केवल दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता बरतने तक की ही छूट दी गयी है। इसलिए कि वे मानते हैं कि ईश्वर या खुदा तक पहुँचने के कई मार्ग भले ही हों पर 'राहे-रास्त' (सीधा मार्ग)[32] केवल एक है और वह है इस्लाम। ऐसी परिस्थिति में जबकि मुसलमान की आस्था यह हो कि 'राहे-रास्त' केवल एक है और यह कि उसका सम्बन्ध 'मनुष्यों के लिए बनाये गये सर्वश्रेष्ठ जन-समुदाय'[33] से है, तो फिर वह यह कैसे मान सकता है कि दूसरे धार्मिक पथ भी उतने ही सच्चे हो सकते हैं जितना कि उसका अपना पंथ। वह यह भी जानता है कि अगर अल्लाह चाहेगा तो वह तुम्हें एक ही दल में संगठित कर देगा, लेकिन वह जिसे चाहता है भटकने देता है और जिसे चाहता है रास्ता दिखाता है;[34] और यह कि 'धर्म में कोई जब्र नहीं है—सही मार्ग स्पष्टतः गलत मार्ग से भिन्न होता है।'[35] मुसलमान यह सब-कुछ जानता है, लेकिन साथ ही उसे लगातार यह भी याद दिलाया जाता है कि 'तुम्हारे बीच से ऐसे लोगों का भी एक दल निकलना चाहिए जो तुम्हें नेकी की ओर लाये, तुम्हे बताये कि क्या सही है और तुम्हें ग़लत काम करने से रोके।'[36] ऐसी स्थिति मे जबकि मुसलमान का विश्वास यह हो कि उसे यह ईश्वरीय संदेश सारी दुनिया मे फैलाना है, तो वह आसानी से उन लोगों को सम्मान की दृष्टि से नही देख सकता जिन्हें वह पथभ्रष्ट समझता है। अगर वह लोगों को 'सही रास्ते' पर लाने के अपने इस ध्येय मे असफल रहता है तो वह हद-से हद निराश होकर यही कह सकता है :

> मैं उसकी सेवा नही करता जिसकी सेवा तुम करते हो।
> और न तुम उसकी सेवा करते हो जिसकी सेवा मैं करता हूँ।
> न मैं उसकी सेवा करूँगा जिसकी सेवा तुम करते हो।
> न तुम उसकी सेवा करो जिसकी सेवा मैं करता हूँ।
> तुम्हारी जज़ा व सज़ा तुम्हारे साथ है मेरी जज़ा व सज़ा मेरे साथ।[37]

•

लोगों को 'सही रास्ते' पर आने का नियंत्रण देने का अपना कर्तव्य कोई मुसलमान पूरा करे या न करे, लेकिन जब तक उसका निजी व्यक्तित्व एक ऐसी बिरादरी की सदस्यता के साथ जुड़ा हुआ है जिसका नेतृत्व उलमा लोग करते

हैं, तब तक वह धर्म-निरपेक्षता के नाम पर भी इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता कि जितने भी धर्म प्रचलित हैं सभी सच्चे हैं।

7

लेकिन धर्म-निरपेक्षता के प्रश्न पर भारतीय मुसलमान मोटे-मोटे तौर पर दो हिस्सों में बँटे हुए प्रतीत होते हैं। पहले समूह में, जो अल्पसंख्यक है और जिसे तिरस्कार से 'सेक्यूलरिस्ट' अथवा 'धर्म-निरपेक्षी' कहा जाता है, अधिकतर आधुनिक शिक्षा पाये हुए मुसलमान हैं जिनका मत है कि एक आस्था के रूप में धर्म का धर्म-निरपेक्षता के साथ सह-अस्तित्व सम्भव है। दूसरा समूह, जिसका नेतृत्व उलमा लोग करते हैं, इस मत पर अटल है कि धर्म केवल आस्था नहीं शरीअ: भी है। *धर्म-निरपेक्षता के साथ आस्था का सह-अस्तित्व भले ही सम्भव हो पर शरीअ: का नहीं।*

परन्तु इस विभाजन को शब्दश: ज्यों-का-त्यों नहीं मान लेना चाहिए क्योंकि उलमा के अन्दर एक और विभाजन है। उनमे स्वतन्त्रता से पहले के दिनों के 'राष्ट्रवादी' उलमा के उत्तराधिकारी है; उन्हें अब भी 'राष्ट्रवादी' कहा जाता है, पर आम मुसलमानों में 'राष्ट्रवादी उलमा' की उपाधि धीरे-धीरे निन्दा का शब्द बनता जा रहा है।

धर्म-निरपेक्षी मुसलमानों पर धार्मिक आचार-व्यवहार के मामले में ढील-ढाल बरतने का आरोप लगाया जाता है। उन पर यह भी आरोप लगाया जाता है कि वे 'दूसरों' को खुश करने के लिए धर्म-निरपेक्षता के नाम पर भारतीय मुसलमानों के 'धार्मिक' इतिहास को तोड-मरोड़कर पेश करते हैं।[38] शिकायत यह है कि जब भी वे पुराने सूफ़ियो के जीवन और उनके कृतित्व की चर्चा करते हैं तो वे अनिवार्यत: केवल दूसरे धर्मों के प्रति इन सूफ़ियों के 'उदार' रवैये को ही उभारने की कोशिश करते हैं। निश्चय ही इसे 'तोड़ना-मरोड़ना' नहीं कहा जा सकता, विशेष रूप से यदि हम यह याद रखें कि ये मुसलमान किस प्रकार के मिले-जुले श्रोता-वर्ग अथवा पाठक-वर्ग को सम्बोधित करते हैं; पर गिद्ध दृष्टि रखने वाले आलोचक इन लोगों को इसलिए बुरा-भला कहते है कि वे धर्म-परिवर्तन के क्षेत्र में इन सूफियों की लगन और सेवाओं को नज़रअंदाज़ करते हैं।[39]

राष्ट्रवादी उलमा की आलोचना बिलकुल ही दूसरे आधार पर की जाती है, जो और कुछ होने से अधिक मनोवैज्ञानिक है। इस शताब्दी के आरम्भ में मुसलमानों को यह बताया गया था कि भारत में मुस्लिम शासन के दौरान दो

प्रकार के उलमा थे : उलमा-ए-हक़ (सदाचारी उलमा) और उलमा-ए-सू (भ्रष्ट उलमा)। यह विभाजन शुरू में तो स्वयं उलमा ही ने किया था;[10] बाद में चलकर उन मुस्लिम इतिहासकारों ने भी जो उलमा नहीं थे इसे अपना लिया।[11] कहा यह जाता था कि सदाचारी उलमा वे थे जो सरकारी नौकरी नहीं करते थे, दूसरी तरफ़ वे थे जिन्हें सरकार न्याय और धार्मिक मामलात के विभागों का प्रबन्ध करने और उन्हें चलाने के लिए नौकर रखती थी। यह विभाजन उलमा ने, विशेष रूप से मौलाना आज़ाद ने, उन समकालीन भारतीय उलमा का महत्त्व घटाने के लिए किया था जो अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ हिन्दुओं के साथ 'राजनीतिक सहयोग' करने के विरोधी थे, और इस प्रकार उन्हें सरकार का पिट्ठू ठहराया जाता था।[12] देश के बँटवारे से पहले के दिनों में 'राष्ट्रवादी' उलमा को इससे अपने मुस्लिम भाइयों की नज़रों में अपनी राजनीतिक साख बढ़ाने में सहायता मिलती थी, परन्तु अब यह विभाजन उनके लिए उल्टे एक मुसीबत बन गया है। क्योंकि यही वे उलमा हैं जिन्हें बहुधा सरकार की सरपरस्ती से 'सम्मानित' किया जाता है, इसलिए उनका मज़ाक़ उड़ाया जाता है, बिलकुल उसी तरह जैसे उनसे पहले मध्य-युग के उलमा का सरकार के 'पिट्ठू' होने के कारण मज़ाक़ उड़ाया जाता था।[13]

इस प्रकार मुसलमानों के दो समूह ऐसे हैं—एक 'धर्म-निरपेक्षी' और दूसरे 'राष्ट्रवादी' उलमा—जिन्हें बहुत-से मुसलमान सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, लेकिन इन दोनों के बीच सहयोग और एकता स्थापित होने की बहुत कम आशा है। ये दोनों एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। उनमें कोई भी तो समानता नहीं है, न शिक्षा में, न सोचने-विचारने के ढंग में, न दुनिया और आक़बत (लोक और परलोक) के बारे में उनके रवैये में, सारांश यह कि किसी भी चीज़ में नहीं। उनमें एक ही समानता है और वह यह कि आम मुसलमान दोनों ही को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं, भले ही बिलकुल ही अलग-अलग कारणों से।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भारतीय मुसलमान दुविधा में पड़े हैं। जहाँ तक धर्म-निरपेक्ष राज्य-सत्ता का सम्बन्ध है वह उन्हें एक तो इसलिए स्वीकार्य है कि इसका कोई विकल्प नहीं है और दूसरे इसलिए कि धर्म-निरपेक्ष राज्य-सत्ता में धार्मिक स्वतन्त्रता का आश्वासन रहता है। परन्तु धर्म-निरपेक्षता के दार्शनिक सिद्धान्तों को धार्मिक जीवन के लिए घातक समझा जाता है। बहुत-से मुसलमान समझते हैं कि अगर उन्होंने धर्म-निरपेक्षता को स्वीकार कर लिया तो उनकी हालत उसी बद्दू जैसी होगी जिसने सर्दी की एक रात में ऊँट को अपनी गर्दन खेमे के अन्दर कर लेने दी थी और नतीजा यह हुआ था कि कुछ देर बाद ऊँट तो खेमे के अन्दर मज़े से सर्दी से बचा हुआ था और बद्दू बेचारा रात-भर खुले आसमान के नीचे सर्दी में ठिठुरता रहा।

सम्भावना यही है कि जब तक यह बिरादरी अपने धार्मिक मार्गदर्शन के लिए उलमा पर निर्भर रहेगी तब तक परिस्थिति यही रहेगी। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, उलमा लोग पूरी बिरादरी के धार्मिक जीवन की निगरानी करने को अपना कर्तव्य समझते हैं। इस उद्देश्य से ये उलमा संविधान की सीमाओं के अन्दर रहकर, जिसमें उन्हें 'अपनी पसन्द की शिक्षा संस्थाएँ स्थापित करने और उनकी व्यवस्था चलाने'[11] की छूट दी गयी है, मदरसे स्थापित करते हैं जिनका पूरा खर्च मुसलमानों के चन्दे से चलाया जाता है और जहाँ लोगों को परम्परागत पद्धति के अनुसार शिक्षा-दीक्षा दी जाती है।

टिप्पणियाँ

1. 'भारत का संविधान', प्रस्तावना, नई दिल्ली, भारत सरकार प्रकाशन, 1950
2. उपर्युक्त, धारा 25
3. उपर्युक्त, धारा 60, 69, 159, तीसरी अनुसूची भी देखिये। संविधान के अनुसार शपथ-ग्रहण की विधि यह है :

   "मैं,......अमुक $\frac{\text{ईश्वर की सौगन्ध खाकर शपथ लेता हूँ}}{\text{वचन देता हूँ}}$ कि मैं पूरी सत्यनिष्ठा के साथ......पद के कर्तव्यों का पालन करूँगा।
4. एस० राधाकृष्णन्, सैयद आबिद हुसैन की पुस्तक 'द नेशनल कल्चर ऑफ इंडिया, बम्बई, एशिया, दूसरा संस्करण, 1961, पृ० 7
5. पी० बी० गजेन्द्र गडकर का लेख 'द कनसेप्ट ऑफ सेक्यूलरिज्म', 'सेक्यूलर डेमोक्रेसी', नयी दिल्ली, वार्षिक अंक, 1970, पृ० 71
6. सैयद आबिद हुसैन, 'द डेस्टिनी ऑफ इंडियन मुस्लिम्स', बम्बई, एशिया, 1965, पृ० 170
7. सैयद आलम खुदमीरी का लेख 'सेक्यूलरिज्म, रिलीजन एण्ड एजुकेशन', 'सेक्यूलरिज्म इन इंडिया', वी० के० सिन्हा (सपादक), बम्बई, 1968, पृ० 90
8. उदाहरण के लिए देखिये बस्ती (उ० प्र०) जिला जमीयते-उलमा में जमीयते-उलमा-ए-हिन्द के जनरल सेक्रेटरी मौलाना सैयद असद मदनी का अध्यक्ष भाषण, 1966, साप्ताहिक 'अल-जमीयत', दिल्ली मे प्रकाशित, वर्ष 55, अंक 16, 23, जनवरी 16, 23, 1970
9. मौलाना अबुल अला मौदूदी का 10 मई, 1947 को पठानकोट में भाषण, 'जमाअते-इस्लामी की दावत', दिल्ली, 1964, पृ० 29-31
10. हमें पूरा अधिकार है कि हम मौलाना मौदूदी की यह आलोचना करें कि "उनमें शास्त्रों और पुराणों पर आधारित भारत के संविधान के परिणामों को समझने की क्षमता ही नहीं थी।" (एम० ई० हुसनैन, इंडियन मुस्लिम्स : चैलेंज एण्ड अपारच्यूनिटी', बम्बई, ललवानी, 1968, पृ० 52) लेकिन मौलाना मौदूदी पूरी ईमानदारी के साथ अपने इस मत पर दृढ़ थे। वह 'इस्लामी राज्य' के पक्ष में थे—और अब भी हैं। फिर वह हिन्दुओं को यह अधिकार देने से कैसे इंकार कर सकते थे कि वे अपने बहुमत वाले क्षेत्र में स्वयं अपने धर्म पर आधारित राज्यसत्ता स्थापित न करें ? शायद इसीलिए उन्हें 'हाँ' कहना

पड़ा था जब जस्टिस मुहम्मद मुनीर ने उनसे पूछा था : "अगर हम पाकिस्तान में इस्लामी राज्य बना लें, तो क्या आप हिन्दुओं को भी इस बात की इजाज़त देंगे कि वे अपना संविधान अपने धर्म के आधार पर बनायें ?" ('1953 के पंजाब के उपद्रवों की छानबीन करने के लिए 1954 के पंजाब ऐक्ट 2 के अन्तर्गत नियुक्त की गयी जाँच-अदालत की रिपोर्ट', लाहौर, 1954, पृ० 228) ।

11. नेहरू लिखते हैं : "हमारी राजनीति में, हिन्दुओं की तरफ भी और मुसलमानों की तरफ भी, बढ़ते हुए धार्मिक तत्त्व पर मुझे कभी-कभी बड़ी चिन्ता होती थी । मुझे यह बात बिलकुल नापसन्द थी । ये मौलवी, मौलाना और स्वामी लोग अपने सार्वजनिक भाषणों में जो कुछ कहते थे उसका बहुत बड़ा हिस्सा मुझे बड़े दुर्भाग्य की बात लगती थी । मुझे ऐसा लगता था कि उनका इतिहास, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र का ज्ञान सारे-का-सारा ग़लत है और हर बात को जो धार्मिक रंग दे दिया जाता था उससे साफ तरीके से सोचना ना-मुमकिन था ।" (जवाहरलाल नेहरू, 'टुवर्ड्स फ्रीडम', बीकन प्रेस, 1963, पृ० 71), 72

12 इस प्रकार के लोगों का एक उदाहरण गांधीजी थे । नेहरू के अनुसार, वह 'लगातार आन्दोलन के धार्मिक और आध्यात्मिक पहलू पर अधिक ज़ोर दे रहे थे । उनका धर्म रूढ़िबद्ध नहीं था, पर उसका अर्थ जीवन के बारे में धार्मिक दृष्टिकोण तो था ही, और पूरे आंदोलन पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा और जहाँ तक जन-साधारण का सम्बन्ध था इस आन्दोलन ने कुछ पुराणपंथी रूप धारण कर लिया । कांग्रेस के कार्यकर्ताओं का विशाल बहुमत स्वाभाविक अपने-आपको अपने महान् नेता के साँचे में ढालने का प्रयत्न करता था और भाषा भी उन्हीं की बोलता था ।' (उपर्युक्त, पृ० 71) । इसी प्रसंग के लिए देखिये एस० के० मजूमदार, 'जिन्ना एण्ड गांधी : देयर रोल इन इंडियाज़ क्वेस्ट फार फ्रीडम', कलकत्ता, 1966

13. पी० बी० गजेन्द्रगडकर, पूर्वोक्त, पृ० 71

14. उदाहरण के लिए देखिये, विल्फ्रेड कैंटवेल स्मिथ, 'द मीनिंग एण्ड एंड ऑफ़ रिलीजन', मैकमिलन, 1962 (पेपरबैक में भी उपलब्ध, मेंटर, 1964); और मौलाना सईद अहमद अकबराबादी, 'हिन्दुस्तान की शरई हैसियत', अलीगढ़, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, 1968, पृ० 94-95

15 डब्लू० सी० स्मिथ के अनुसार (पूर्वोक्त, मेंटर, पृ० 105), 'एक संकेत तो यह स्थापित किया जा सकता है कि 'ईमान' और 'इस्लाम' शब्दों का प्रयोग किस अनुपात से होता है; 'ईमान' व्यक्तिमूलक तथा सक्रियात्मक शब्द है और 'इस्लाम' क्रमशः अधिक प्रमाणी-मूलक तथा बाह्यगत । कुरान में 'ईमान' का प्रयोग 'इस्लाम' की तुलना में पाँच गुना अधिक किया गया है । उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक की अरबी पुस्तकों के नामों में 'ईमान' की तुलना में 'इस्लाम' का प्रयोग डेढ़ गुना हो गया था । आधुनिक काल में यह अनुपात बढ़कर तेरह गुना हो गया है । (नीचे टिप्पणी 16 भी देखिये) ।

16. उदाहरण के लिए, डब्लू० सी० स्मिथ एक ग्राफ़ की सहायता से (उपर्युक्त, पृ० 72, 73) 'आधुनिक काल में 'क्रिश्चियन फेथ', 'क्रिश्चियन रिलीजन' (और) 'क्रिश्चिएनिटी' का प्रतिशत प्रयोग' दिखाते हुए कहते हैं "अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक शब्द 'क्रिश्चिएनिटी' का प्रयोग मुख्यतः और बिना किसी शंका के एक प्रणालीबद्ध 'धर्म' के नाम के रूप में होने लगा था ।" (इसी पुस्तक के पृ० 266, 267 और नोट 106, 10 भी देखिये) ।

17. उदाहरण के लिए देखिये, मौलाना अबुल हसन अली नदवी की अरबी पुस्तक 'माजा खसीर-अल-आलम बि-इनहितात-इल-मुस्लिमीन' (मुसलमानों के पतन से ससार को क्या क्षति पहुँची है ?), क़ाहिरा, दूसरा संस्करण, 1951; (इसके आलोचनात्मक मूल्याकन के लिए देखिये जी० ई० फान ग्रूनबाम, 'मॉडर्न इस्लाम द सर्च फार कल्चरल आइडेंटिटी', यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, 1962, अध्याय 7, 'फाल एण्ड राइज ऑफ़ इस्लाम : ए सेल्फ़ व्यू', पृ० 180-190)।
18. 'इंट्रोड्यूसिंग द जमाअते-इस्लामी-हिन्द', पाँचवी आवृत्ति, दिल्ली, 1971, पृ० 31, 32। यही विचार 18 अगस्त, 1970 को जमाअत की मजलिसे-शूरा (वर्किंग कमेटी) मे पास किये गये एक प्रस्ताव मे भी कहा गया है; देखिये उर्दू दैनिक 'दावत', दिल्ली, वर्ष 19, अंक 227, 22 अगस्त, 1970
19. जहाँ तक लेखक को पता है, इस दोरुखी बात के खिलाफ उलमा के बीच से पहली बार हाल ही में आवाज उठायी थी लखनऊ के उर्दू मासिक 'अल-फ़ुरकान' के सपादक मौलाना अतीकुर्रहमान सभली ने। उन्होने उलमा से अनुरोध किया है कि वे इस बात के विरोधाभास को समझें। उनका कहना है कि धर्म-निरपेक्ष राज्य-सत्ता धर्म-निरपेक्षता का ही स्वाभाविक परिणाम है। यदि धर्म-निरपेक्षता इस्लाम विरोधी है तो सकट की परिस्थिति मे मुसलमानो को और विशेष रूप से उलमा को धर्म-निरपेक्षता की दुहाई देकर शिकवा नही करना चाहिए और न ही सरकार के खिलाफ अपनी शिकायतें दर्ज करनी चाहिये। जाहिर है कि यह तो हो नही सकता कि चित भी मेरी पट भी मेरी। (देखिये, उनका सपादकीय लेख 'निगाहे-अव्वली', 'अल-फ़ुरकान', लखनऊ, वर्ष 38, अक 5, अगस्त 1970)।
20. उदाहरण के लिए देखिये, मौलाना हिफ़्ज़ुर्रहमान का लेख 'मुआहिद-ए-यहूद इस्मी नुक्त-ए-नजर से : तस्वीर का दूसरा रुख' मासिक 'बुरहान', दिल्ली, 1940, वर्ष 4, अक 3, पृ० 169-192; वर्ष 4, अंक 4, पृ० 271-290, वर्ष 4, अक 5, पृ० 345-359
21. उदाहरण के लिए देखिये, शम्सुल-उलमा मौलाना मुहम्मद अब्दुर्रहमान का लेख 'मुआहिद-ए-यहूद इल्मी नुक्तः-ए-नजर से', 'बुरहान', दिल्ली, 1940, वर्ष 4, अक 1, पृ० 47-64; वर्ष 4, अक 2, पृ० 103-120; वर्ष 5, अंक 1, पृ० 49-60, वर्ष 5, अक 2, पृ० 129-140; वर्ष 5, अक 3, पृ० 208-224। और भी देखिये, मौलाना मुहम्मद अशरफ अली थानवी का लेख 'मुआमलतुल-मुस्लिमीन फी मुआहिदाते-गैरुल-मुस्लिमीन' (उर्दू), उनकी पुस्तक 'इफ़ादाते-अशरफीय दर मसाइले-सियासिय' (उर्दू), सपादक तथा प्रकाशक मुफ़्ती मुहम्मद शफी, देवबन्द, दूसरा संस्करण, 1945
22. डब्लू० सी० स्मिथ, 'इस्लाम इन मॉडर्न हिस्ट्री' (मेंटर), 1959, पृ० 285। टिप्पणी 32, पृ० 285 मे स्मिथ इस प्रस्थापना के बारे मे लिखते हैं : "जैसा कि (जमीयते-उलमा-ए-हिन्द के) पार्टी के नेता के एक दल ने, विशेष रूप से मौलाना हिफ़्ज़ुर्रहमान ने स्वयं इस लेखक को व्याख्या करके समझाया, दिल्ली, 1956"
23. उदाहरण के लिए देखिये, मौलाना सईद अहमद अकबराबादी, 'हिन्दुस्तान की शरई हैसियत', अलीगढ, 1968; जिसमें उन्होने उन उलमा का खण्डन किया है जो भारत को दारुल-हर्ब समझते हैं और यह निष्कर्ष निकाला है कि धर्म-निरपेक्ष भारत न दारुल-इस्लाम है न दारुल-हर्ब। (दारुल-इस्लाम का अर्थ है इस्लाम का घर, वह देश जहाँ इस्लाम के कानून पूरी तरह लागू हों। दारुल-हर्ब का अर्थ है युद्ध का घर, वह देश जहाँ इस्लाम का शासन लागू न हो। इन दो शब्दो के लिए देखिये 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़

इस्लाम' (इन्ही शब्दों के अन्तर्गत); और भी देखिये, मजीद खद्दूरी, 'द इस्लामिक लॉ ऑफ नेशन्स . शायबानीज सियर', बाल्टीमोर, द जान हापकिन प्रेस, 1966, विशेषतः शायबानी की पुस्तक 'सियर' के मूल अरबी पाठ का अंग्रेजी अनुवाद, पृ० 72-292, विशिष्ट रूप से अध्याय 1-6 और 9

24 एम० मुजीब, 'द इंडियन मुस्लिम्स', लदन, जार्ज एलेन एण्ड अनविन, 1967, पृ० 57

25. डब्लू० सी० स्मिथ अपनी पुस्तक 'द मीनिंग एण्ड एड ऑफ रिलीजन', (मेंटर) मे पृ० 302 पर टिप्पणी 107 के अन्त मे लिखते हैं : "मैंने मुतकल्लिमीन ([मुस्लिम] धर्म-शास्त्रवेत्ताओं) के बीच पन्द्रहवी शताब्दी ई० तक 'शरीअ.' के शब्द और इस परिकल्पना के प्रयोग का और शरअ का भी अध्ययन किया है। इस अध्ययन के परिणामो की एक प्रारम्भिक रिपोर्ट 1960 मे मास्को मे प्राच्यविदो की अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस के अरबी खण्ड के सामने पढ़ी गयी थी, पूरे निबन्ध मे, जो 1965 मे प्रकाशित हुआ था (वर्तमान लेखक को वह प्राप्त नही हो सका), इस क्षेत्र मे भी अमूर्त्त को मूर्त्त मे परिवर्तित कर देने की क्रमिक प्रक्रिया का, जो आश्चर्यजनक हद तक बहुत देर मे आरम्भ हुई, रहस्योद्घाटन तथा उसकी पुष्टि करने वाले आँकड़े और दस्तावेज प्रमाण रूप मे प्रस्तुत किये गये हैं।

26 उदाहरण के लिए देखिये, मौलाना मुहम्मद मजूर नोमानी, 'इस्लाम : फ़ेथ एण्ड प्रैक्टिस', लखनऊ (मूलत: उर्दू मे 'दीन-ओ-शरीअत' के नाम से प्रकाशित, लखनऊ, अल-फ़ुरक़ान)।

27. उदाहरण के लिए देखिये, नियाज़ी बर्क्स, 'द डेवलपमेंट ऑफ सेक्युलरिज्म इन टर्की', माट्रियल, मैकगिल यूनिवर्सिटी प्रेस, 1964

28. उदाहरण के लिए देखिये, मौलाना हकीम मुहम्मद कामिल बहरुल-उलूमी का लेख 'सेक्यूलरिज्म', साप्ताहिक 'सिद्क़े-जदीद', लखनऊ, वर्ष 20, अक 33, 17 जुलाई, 1970, पृ० 5-6

29. उदाहरण के लिए देखिए, नई दिल्ली के मासिक 'जामिय' के मई और जून 1970 के अकों में प्रकाशित प्रो० एम० मुजीब के लेख 'इस्लाम मे फर्द के जमीर का मकाम' पर मासिक 'अल-फ़ुरक़ान' (लखनऊ, वर्ष 38, अक 5, 6, अगस्त, सितम्बर, 1970) में मौलाना अतीक़ुर्रहमान संभली की समालोचना। (इसके अंग्रेजी रूपान्तर के लिए देखिये नई दिल्ली के त्रैमासिक 'स्टडीज इन इस्लाम' के जुलाई 1970 के अक मे प्रो० एम० मुजीब का लेख 'द स्टेट्स ऑफ़ इण्डिविजुअल कॉशन्स इन इस्लाम', पृ० 125-149, जो उनकी पुस्तक 'इस्लामिक इनफ्लुएंस ऑन इंडियन सोसाइटी' मे भी प्रकाशित किया गया है, मेरठ, 1972, पृ० 34-58। और भी देखिये, ऑल इंडिया शफ़ीक़ मेमोरियल सोसाइटी की ओर से 1970 में खैर मौरवी के सपादन मे प्रकाशित 'नज्रे-मक़बूल' मे प्रो० एम० मुजीब के एक और लेख पर 'अल-फ़ुरक़ान' (अगस्त, 1970, पृ० 55) में मौलाना अतीक़ुर्रहमान सभली की समालोचना; और भी देखिये, भोपाल के सैफीय: कॉलेज की पत्रिका 'मजल्ल: सैफ़ीय.' के गालिब अक, 1970 मे प्रकाशित गालिब की शायरी पर प्रो० मुजीब के एक लेख पर साप्ताहिक 'सिद्क़े-जदीद' (लखनऊ, 24 जुलाई और 14 अगस्त, 1970) मे मौलाना अब्दुल माजिद दर्याबादी की समालोचना। (नीचे टिप्पणी 39 भी देखिये)।

30 मीर मुश्ताक़ अहमद, 'सेक्यूलरिज्म का क्या मतलब है ?', उर्दू दैनिक 'अल-जमीयत', दिल्ली, 26 जुलाई, 1969

31. मौलाना इश्तियाक़ अहमद क़ासिमी, 'सेक्यूलरिज्म : मजहबी रवादारी, उपर्युक्त, 30 जुलाई, 1969

32 कुरान, 1 : 4
33. उपर्युक्त, 3 : 109
34. उपर्युक्त, 16 : 93
35 उपर्युक्त, 2 : 256
36 उपर्युक्त, 3 : 103
37. उपर्युक्त, 109 : 2-6
38. उदाहरण के लिए देखिये, साप्ताहिक 'निदा-ए-मिल्लत', लखनऊ, वर्ष 21, अंक 6; 20 सितम्बर, 1970, पृ० 3
39. उदाहरण के लिए देखिये, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के एमेरिटस प्रोफेसर (स्वर्गीय) प्रो० मुहम्मद हबीब ने दिल्ली विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग के तत्वावधान में 16, 17 मार्च, 1970 को ख़्वाजा निज़ामुद्दीन औलिया के जीवन और उनकी शिक्षाओं पर जो निज़ाम एक्सटेंशन लेक्चर दिया था, उस पर मौलाना अब्दुल माजिद दर्याबादी ने उनकी बहुत कड़ी आलोचना की थी कि उन्होंने ख़्वाजा का 'एकतरफ़ा' चित्र प्रस्तुत किया है। (देखिये, 'सिद्क़े-जदीद', लखनऊ, 27 मार्च, 1 और 22 मई, 1970)। इसी प्रकार मौलाना अब्दुल माजिद दर्याबादी ने अपने साप्ताहिक 'सिद्क़े-जदीद' में (लखनऊ, 10 जुलाई, 1970) उसी विश्वविद्यालय के मध्ययुगीन भारतीय इतिहास के एक और मुस्लिम प्रोफेसर, प्रो० ख़लीक़ अहमद निज़ामी को ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती पर उनकी एक रेडियो-वार्ता के लिए बहुत लताड़ा था।
40 उदाहरण के लिए देखिये, मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद, 'तज़किरः', 1919 वाले प्रथम संस्करण की पुनरावृत्ति, लाहौर; और उन्हीं की पुस्तक 'तज़किरः मुजद्दिद अल्फ़े-सानी', लखनऊ, अल-फ़ुरक़ान।
41. उदाहरण के लिए देखिये, एम० मुजीब, द इंडियन मुस्लिम्स, लंदन 1967, अध्याय 3 और 11
42 निजी तौर पर मैं इस विभाजन के विरुद्ध हूँ। ऐसा नहीं है कि भ्रष्ट उलमा थे नहीं, पर उनका भ्रष्टाचार आवश्यक रूप से इस कारण नहीं था कि उन्होंने सरकारी नौकरियाँ स्वीकार कर ली थीं। वे भी हमारे आजकल के सरकारी अफसरों जैसे ही थे, जिनमे अच्छे और बुरे दोनों ही तरह के लोग पाये जाते हैं। मैंने अपने उर्दू के एक लेख 'मज़हब और जदीद ज़िह्न' में यही बात उठायी है, त्रैमासिक 'इस्लाम और अस्रे-जदीद', वर्ष 2, अंक 4, अक्तूबर, 1970
43. उदाहरण के लिए, उ० प्र० मुस्लिम मजलिस के मुखपत्र लखनऊ के उर्दू दैनिक 'क़ाइद' (जो अब बन्द हो गया है) 24 जुलाई, 1968 को (वर्ष 4, अंक 198) अपने एक सम्पादकीय लेख 'दारुल-उलूम देवबन्द को बचाओ' में कहता है : "हर आदमी जानता है कि मौलाना (मुहम्मद असद) मदनी (जमीयते-उलमा वाले) और उनका 'राष्ट्रवादी' मुसलमानों का दल मुस्लिम समाज के 'आस्तीन के साँप' हैं। अपनी इन सेवाओं के लिए मौलाना मदनी को न केवल कांग्रेस वर्किंग कमेटी की मेम्बरी और राज्य-सत्ता की एक सीट दी गयी है बल्कि बहुत-सी ऐसी दूसरी सुविधाएँ भी दी गयी हैं जो 99 फीसदी हिन्दुस्तानियों को मयस्सर नहीं हैं। वह अभी हाल में अफ्रीकी मुस्लिम देशों के दौरे से वहाँ के लोगों को यह खुशखबरी सुनाकर लौटे हैं कि भारत में मुसलमान ऐश कर रहे हैं।"
44 भारत का संविधान, धारा 30 (1)।

3

धार्मिक शिक्षा

मदरसा, जिसका शाब्दिक अर्थ शिक्षा का स्थान होता है, मुसलमानों का धार्मिक स्कूल होता है जहाँ उलमा को उनकी शिक्षा-दीक्षा मिलती है। उलमा ('आलिम' अर्थात् विद्वान का बहुवचन) शब्द अब केवल उन मुसलमानों के लिए इस्तेमाल किया जाने लगा है जो न केवल किसी इस्लामी मदरसे में परम्परागत इस्लामी विषयों की शिक्षा प्राप्त करते हैं, जैसे कुरान की तफसीर (व्याख्या), पैगम्बर की परम्पराएँ (सुन्नते-रसूल और हदीस), इस्लामी कानून और दीनियात (धर्मशास्त्र), बल्कि वे शरीअः का अक्षरशः पालन करने का भी प्रयत्न करते हैं। कोई भी व्यक्ति इन विषयों का अध्ययन मदरसे के बाहर भी कर सकता है, पर उस दशा में उसे 'आलिम' माना जाय यह आवश्यक नहीं।

भारत के इतिहास के मुस्लिम-युग मे शिक्षा-संस्थाएँ धार्मिक और धर्म-निरपेक्ष की अलग-अलग कोटियों में विभाजित नहीं थी। एक ही प्रकार का स्कूल होता था, जिसमे धार्मिक और धर्म-निरपेक्ष सभी विषय पढ़ाये जाते थे; परन्तु इन मदरसों में पढ़ने वाले सभी लोग उलमा की श्रेणी मे नही आते थे। आम तौर पर उलमा उन्ही को कहा जाता था जो दीनियात और कानून का अध्ययन पूरी तरह करते थे और बाद में या तो सरकार के धार्मिक और न्यायिक विभागों में नौकरी कर लेते थे या फिर उन्ही मदरसों में पढ़ाने लगते थे।

उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ मे भारत में मदरसों से भिन्न प्रकार के स्कूल खुलने लगे जिनमें से अधिकांश की व्यवस्था ईसाई मिशन चलाते थे। यद्यपि मिशन स्कूलों की प्रगति हो रही थी फिर भी शताब्दी के उत्तरार्ध तक तो मदरसो का महत्त्व बना ही रहा क्योंकि उस समय तक मदरसों के पढे हुए लोगों को सरकारी नौकरी के योग्य समझा जाता था। पर शिक्षा के बारे में सरकारी नीति धीरे-धीरे बदल रही थी। 1857 के बाद मदरसों में शिक्षा पाये हुए किसी आदमी के लिए कोई भी महत्त्वपूर्ण सरकारी पद पाना लगभग असम्भव-सा हो गया। इसके अतिरिक्त, सरकार ने पुरानी मुस्लिम शिक्षा-पद्धति को सहारा देने

की कोई इच्छा प्रकट नहीं की। इसके बजाय वह उन आधुनिक स्कूलों और कालेजों को प्रश्रय देने लगी जो धर्म-निरपेक्ष विषय पढ़ाने के लिए स्थापित किये गये थे।

भारत की मुस्लिम बिरादरी ने यह बात अच्छी तरह समझ ली कि वह अपनी धार्मिक शिक्षा के लिए सरकार पर निर्भर नहीं रह सकती; वे समझ गये कि अगर वे चाहते हैं कि उनकी नयी पीढ़ी को अपने धर्म का कुछ भी ज्ञान मिल सके तो उन्हें स्वयं अपने स्कूल खोलने पड़ेंगे। इसलिए 1865 में उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले के देवबन्द नामक कस्बे मे एक मदरसा खोला गया। इसका नाम तो इसके एक संस्थापक मौलाना मुहम्मद क़ासिम के नाम पर 'मदरसा क़ासिम-उल-उलूम' रखा गया था, पर अब आम तौर पर इसे 'देवबन्द का दारुल-उलूम' कहते हैं। पूरे उत्तर भारत में देवबन्द के दारुल-उलूम से सम्बद्ध मदरसों की एक शृंखला स्थापित करने की योजना बनायी गयी थी, पर यह योजना केवल इस हद तक पूरी हुई कि केवल दो और संस्थाओं की स्थापना हो सकी, सहारनपुर में मज़ाहिर-उल-उलूम (1865) और मुरादाबाद में कासिम-उल-उलूम, और वे देवबन्द के दारुल-उलूम से प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन प्राप्त करते थे।[1] यहां पर औपचारिक रूप से सम्बद्ध होने का उल्लेख नहीं किया जा रहा है क्योंकि सही माने में कोई भी मदरसा अपनी प्रशासन-व्यवस्था के मामले में किसी भी केन्द्रीय संगठन के साथ सम्बद्ध नहीं होता; वे सभी स्वतन्त्र रहकर हर जगह लगभग एक जैसे पाठ्यक्रम के अनुसार शिक्षा देते हैं। जैसा कि हम देखेंगे सारे देश में इस प्रकार के कितने ही मदरसे हैं।

देवबन्द के दारुल-उलूम की स्थापना से मुस्लिम बिरादरी को अपने बच्चों की धार्मिक शिक्षा-दीक्षा के लिए भारत के विभिन्न नगरों में मदरसे खोलने की प्रेरणा मिली। इस प्रकार उत्तर प्रदेश और बिहार के केवल दो प्रान्तों में 1865 और 1899 के बीच कम-से-कम तीस मदरसे खुले; (नीचे दी हुई तालिका 1 देखिये)।[2]

तालिका 1

उन्नीसवी शताब्दी में उत्तर प्रदेश और बिहार मे स्थापित किये गये मदरसे

वर्ष	उत्तर प्रदेश	बिहार	कुल योग
1865	2	—	2
1867	—	1	1
1874	1	—	1
1876	1	—	1
1877	1	—	1
1878	2	1	3
1880	1	—	1
1883	3	—	3
1889	1	1	2
1890	2	—	2
1892	2	—	2
1893	—	2	2
1894	1	1	2
1895	1	—	1
1896	1	—	1
1897	2	—	2
1898	1	—	1
1899	2	—	2
कुल योग	24	6	30

हमारे पास उन मदरसों के बारे में कोई जानकारी नही है जो इसी दौर मे देश के दूसरे भागो मे स्थापित किये गये थे, या जो उत्तर प्रदेश और बिहार मे उन्नीसवी शताब्दी मे स्थापित किये गये थे पर अब बन्द हो चुके हैं। परन्तु इस अधूरी सूची से भी यह समझने मे सहायता मिलती है कि मुसलमानों को धार्मिक शिक्षा की कितनी चिन्ता थी। वे अच्छी तरह जानते थे कि मदरसे के पढे हुए लोगो के लिए दुनिया मे सफलता प्राप्त करने के सभी द्वार बन्द हैं; फिर भी उन्होने इन मदरसों को चलाने के लिए न केवल भरपूर पैसा दिया बल्कि इस बात का भी पूरा प्रबन्ध किया कि किसी मदरसे मे छात्रों की कमी न होने पाये।

2

आम तौर पर विश्वास यह किया जाता है कि केवल ग़रीब घरों के लोग, जो अपने बच्चों को यूनिवर्सिटी की शिक्षा दिलाने में असमर्थ थे, उन्हें मदरसों में भेज देते थे; यह बात केवल आंशिक रूप से सत्य है, क्योंकि बहुत-से खाते-पीते घराने कम-से-कम अपने एक बच्चे को तो मदरसे में भेजते ही थे। सच तो यह है कि मदरसे की शिक्षा को धार्मिक कर्तव्य समझा जाने लगा था। आस्था यह थी कि कयामत के दिन आलिम अपने माँ-बाप और रिश्तेदारों की तरफ से खुदा से पैरवी करेगा। इसलिए बहुत-से आधुनिक शिक्षा पाये हुए बाप भी, जो अपने सभी बच्चों की आधुनिक शिक्षा का खर्च दे सकते थे, कम-से-कम एक बेटे को तो मदरसे की शिक्षा के लिए भेजने की कोशिश जरूर करते थे। स्वतन्त्रता से पहले के दौर की आर्थिक व्यवस्था के कारण इस प्रणाली को चलाने में सहायता मिलती थी; धनी परिवार का अकेला 'आलिम' अपने परिवार की जमीन-जायदाद के सहारे जीवन-निर्वाह कर सकता था। परन्तु स्वतन्त्रता के बाद, और खास तौर पर जमींदारी के खात्मे के बाद, परिस्थिति धीरे-धीरे बदलती गयी है। हालांकि अमीर घरानों के लड़कों ने मदरसों में जाना बिलकुल बन्द नहीं किया है फिर भी उनकी संख्या धीरे-धीरे घटती ही जा रही है।

कुल मिलाकर देखा जाय तो बदली हुई राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण मदरसों की संख्या में कोई कमी नहीं हुई है। चूंकि इनका कोई व्यवस्थित सर्वेक्षण नहीं होता है इसलिए प्रचलित धारणा यह है कि मदरसों का युग बीत चुका है; इस प्रकार "1950 में की गयी एक मोटी-मोटी गणना से यह पता चलता है कि अकेले भारत के गणराज्य में परम्परागत ढंग के 88 अरबी के मदरसे थे"।[3] परन्तु यह संख्या वास्तविक सख्या से बहुत कम है। हमें भारत के पूरे गणराज्य में मदरसों की कुल संख्या तो नहीं मालूम, पर उत्तर प्रदेश और बिहार के उपलब्ध आंकड़ों से (जो वास्तविक संख्या से कम हैं) बिलकुल ही दूसरा चित्र सामने आता है। निम्न तालिका के अनुसार 1969 में अकेले इन दो राज्यों में कम-से-कम 356 मदरसे चल रहे थे।[4] उन सभी की साख या महत्त्व बराबर नहीं था फिर भी इन सभी में उलमा की शिक्षा-दीक्षा होती थी।

तालिका 2

उत्तर प्रदेश और बिहार के (1865 और 1968 के बीच स्थापित किये गये) ऐसे मदरसे जो 1969 में चल रहे थे

काल	उत्तर प्रदेश	बिहार	कुल योग
1865-1899	24	6	30
1900-1946	98	89	187
1947-1949	6	8	14
1950-1959	30	50	80
1960-1968	12	33	45
1969	170	186	356

3

इन मदरसों में पढाई की योजना अभी तक लगभग वही है जिसकी नीव सत्रहवी शताब्दी के अन्त में एक प्रख्यात भारतीय विद्वान, अवध के मुल्ला निज़ामुद्दीन (1679-1748) ने डाली थी और उन्ही के नाम पर आम तौर पर इसे 'दर्स-निज़ामी' (निज़ामी पाठ्यक्रम) कहा जाता है। यह योजना इससे पहले के पाठ्यक्रमों और पाठ्य-पुस्तकों[5] के मामले में दो प्रकार से भिन्न थी : (1) बहुत-सी गैर-भारतीय पाठ्य-पुस्तकों की जगह भारतीय लेखको की लिखी हुई पुस्तकें पढायी जाने लगी,[6] और (2) "किसी पाठ्य-पुस्तक के निर्धारित कर दिये जाने के बाद भी वह (मुल्ला निज़ामुद्दीन) उसकी पाठ्य-सामग्री पर बहुत कम ध्यान देते थे, बल्कि उस पाठ्य-सामग्री के चारो ओर ज्ञान का एक ऐसा विस्तृत जाल बुन देते थे जिससे छात्रो के ज्ञान-चक्षु खुल जाते थे"।[7]

निज़ामी पाठ्यक्रम पर एक सरसरी-सी दृष्टि डालने से भी पता चलता है कि इससे छात्रो को धार्मिक की अपेक्षा धर्म-निरपेक्ष ज्ञान अधिक मिलता था। यह इसलिए आवश्यक था, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कि शिक्षा का बुनियादी उद्देश्य 'धर्मोपदेशक' और वर्तमान ढंग के उलमा उत्पन्न करना नही बल्कि भावी सरकारी नौकर तैयार करना था। नीचे दर्स-निज़ामी की जो योजना दी गयी है उससे इस धारणा की पुष्टि होती है :

तालिका 3

निज़ामी पाठ्यक्रम

विषय	निर्धारित पुस्तकों के नाम
1. व्याकरण —शब्दानुशासन (सर्फ़)	मीज़ान; मुंशअब; सर्फ़-मीर; शाफ़ीयः
2. व्याकरण—वाक्य-रचना (नह्व)	नह्वे-मीर; काफ़ीयः; शर्हे-जामी
3. तर्कशास्त्र (मंतिक़)	सुग़रा; कुबरा; ईसाग़ोजी; तहज़ीब; क़ुतुबी; मीर मुल्लमुल-उलूम
4. दर्शन-शास्त्र (हिकमत)	मेबूज़ी; सदरा; शम्से-बाज़ीग़ः
5. भौतिकी व गणित (रियाज़ियात)	खुलासतुल-हिसाब; तशरीहुल-अफ़लाक; तहरीरे-उकलैदिस (यूक्लिड खण्ड 1) रिसालः-ए-क़ौशीजीयः; शर्हे-चाग़मीनी
6. अलंकार-शास्त्र (बलाग़त)	मुख़्तसरुल-मआनी; मुतव्वल।
7. न्यायशास्त्र (फ़िक़्ह)	शर्हे-वक़ायः; हिदायः
8. न्यायशास्त्र के सिद्धान्त (उसूले-फ़िक़्ह)	नूरुल-अनवार; तलवीह; मुसल्लमुस-सुबूत
9. धर्म-विज्ञान (इल्मुल-कलाम)	शर्हे-अक़ाइदे-नसफ़ी; शर्हे-अकाइदे-जलाली; मीर-ज़ाहिद; शर्हे-मवाक़िफ़।
10. क़ुरान की व्याख्या (तफ़सीर)	जलालैन; बैज़ावी
11. पैग़म्बर की परम्पराएँ (हदीस)	मिश्कातुल-मसाबीह

ब्रिटिश शासनकाल में, जब मदरसे सरकारी अफ़सरों की शिक्षा-दीक्षा के केन्द्रों की अपेक्षा धार्मिक मार्ग-दर्शन देने वाले उलमा तैयार करने वाले केन्द्र बनते गये तो पाठ्यक्रम में इसी के अनुसार परिवर्तन किया गया। उदाहरण के लिए, देवबन्द के दारुल-उलूम ने जो पाठ्यक्रम स्वीकार किया वह मुख्यतः दर्से-निज़ामी की ही पद्धति के अनुकूल था, पर बदले हुए उद्देश्यों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उसमें कुछ नये विषय जोड़ दिये गये और कुछ दूसरे विषयों में आवश्यकतानुसार पुस्तकों की संख्या बदल दी गयी। निज़ामी पाठ्यक्रम और (1960 के) देवबन्द के पाठ्यक्रम की तुलना करने पर पता चलता है कि इस

विचार की ओर झुकाव बढ़ गया था कि शिक्षा का उद्देश्य मुख्यतः छात्र को धर्म का प्रचार और उसकी व्याख्या करने के लिए तैयार करना है। इन दोनों पाठ्यक्रमों का अन्तर इस प्रकार है :[8]

तालिका 4

निज़ामी पाठ्यक्रम और देवबन्द के पाठ्यक्रम की तुलना

विषय	निर्धारित पुस्तकों की संख्या	
	निज़ामी	देवबन्द
1. व्याकरण : शब्दानुशासन तथा वाक्य-रचना	7	13
2. तर्कशास्त्र	6	11
3. दर्शनशास्त्र	3	4
4. छन्दशास्त्र	—	1
5. अलंकारशास्त्र	2	3
6. भौतिकी व गणित	5	4
7. न्यायशास्त्र (फ़िक़्ह)	2	5
8. न्यायशास्त्र के सिद्धान्त	3	5
9. उत्तराधिकार विभाजन के सिद्धान्त	—	1
10. धर्म-विज्ञान (इल्मुल-कलाम)	4	3
11. कुरान की व्याख्या (तफ़सीर)	2	3
12. व्याख्या के सिद्धान्त (उसूले-तफ़सीर)	—	1
13. पैगम्बर की परम्पराएँ (हदीस)	1	11
14. परम्परा के सिद्धान्त (उसूले-हदीस)	—	1
15. इस्लामी इतिहास	—	2
16. पैगम्बर की जीवनी	—	1
17. अरबी साहित्य	—	6
18. चिकित्साशास्त्र (तिब्बे-यूनानी)	—	5
19. शास्त्रार्थ (इल्मे-मुनाज़रः)	—	1
योग	35	81

4

पाठ्यक्रम, पाठ्य-पुस्तकों, शिक्षा-पद्धति और विद्या-सम्बन्धी तथा धार्मिक शिक्षा-दीक्षा के मामले में अलग-अलग मदरसों के बीच बहुत अन्तर नही है। फिर भी वे बिलकुल स्वतन्त्र और—अल्लाह के बाद—केवल बिरादरी के सामने जवाबदेह होते हैं। उनका खर्च पूरी तरह मुसलमानों के सार्वजनिक चन्दे से चलता है, जो वे नियमित रूप से थोड़े-थोड़े समय बाद नक़द पैसे, अन्न, कपड़ों, अन्य सामग्री और अचल सम्पत्ति के रूप में देते रहते हैं।

शिक्षा-वर्ष के अन्त में, आम तौर पर इस्लामी कलेण्डर के आठवें महीने मे बहुधा उसी मदरसे के अध्यापक छात्रों की परीक्षा लेते हैं और जो परीक्षा मे सफल होते हैं उन्हें ऊँची कक्षा मे चढ़ा दिया जाता है। इस प्रकार एक औसत छात्र बीस से पच्चीस वर्ष की उम्र के बीच उलमा की श्रेणी मे आ जाता है। शिक्षा पूरी कर लेने पर जो 'होनहार' होते हैं उन्हें आम तौर पर अपने ही मदरसे मे या किसी दूसरे मदरसे में अध्यापक की नौकरी मिल जाती है, जिसका वेतन आम तौर पर सौ रुपये से कम होता है; कुछ को किसी मस्जिद के इमाम का काम मिल जाता है; कुछ यूनानी मेडिकल कॉलेजों मे भरती होकर तबीब (हकीम) बन जाते हैं; कुछ लोग विश्वविद्यालयों की प्राच्य शिक्षा की परीक्षाओं मे बैठते हैं और नये सिरे से अपना छात्र-जीवन आरम्भ करते हैं; कुछ लोग स्थानीय बच्चों को लेकर अपना मदरसा खोल लेते हैं और उन्हें कुरान पढ़ाते हैं और प्राथमिक धार्मिक शिक्षा देते है। चूंकि मदरसे किसी केन्द्रीय संगठन से सम्बद्ध नही होते है इसलिए कोई भी आदमी, जो पर्याप्त चन्दा जुटा सके, मदरसा खोल सकता है। कोई केन्द्रीय संगठन-सत्ता न होने के कारण, जब कोई छात्र एक मदरसा छोडकर दूसरे मदरसे में भरती होना चाहता है तो उससे स्थानान्तरण का प्रमाणपत्र नही मांगा जाता; अलबत्ता उसे अपनी योग्यता सिद्ध करने के लिए परीक्षा देनी पड़ती है। छात्रो और अध्यापकों की संख्या और शिक्षा का मानदण्ड कुछ भी हो, लगभग सभी मदरसो को इस्लामी ज्ञान के कॉलेजों या विश्वविद्यालयों का दर्जा दिया जाता है।

मदरसे की शिक्षा आम तौर पर दो खण्डों मे विभाजित होती है : (1) प्राथमिक खण्ड, जिसमे भाषाएँ, गणित, प्राथमिक इतिहास, भूगोल आदि धर्म-निरपेक्ष विषयो के अतिरिक्त क़ुरान का पाठ करना (किरअत), पैगम्बर की जीवनी और नमाज़-रोज़े के बुनियादी नियम आदि सिखाये जाते हैं; (2) अरबी खण्ड जिसमे उच्चतर धार्मिक विषयो की शिक्षा दी जाती है। बहुत-से छात्र क़ुरान को कण्ठस्थ करके हाफ़िज़ (जिसे कुरान कण्ठस्थ हो) बन जाते हैं ताकि आगे चलकर वे मस्जिदों में नमाज़ पढ़ा सकें।

प्राथमिक खण्ड का पाठ्यक्रम आम तौर पर उस राज्य की सरकार के निर्धारित किये हुए पाठ्यक्रम के अनुकूल होता है, ताकि जो लड़के चाहें वे धर्म-निरपेक्ष स्कूलों में अपनी शिक्षा जारी रख सकें। नीचे दी हुई तालिका से पता चलता है कि बहुत-से छात्र धार्मिक स्कूलों में अपनी प्राथमिक शिक्षा पूरी करने के बाद दूसरे स्कूलों में चले जाते हैं।[9]

तालिका 5

प्राथमिक और अरबी खण्डों में मदरसों के छात्रों की संख्या (1967-68)

	उत्तर प्रदेश	बिहार	कुल योग
(1) प्राथमिक खण्ड	35,862	20,592	56,454
(2) अरबी खण्ड	7,039	7,958	14,997
(1) और (2) का अन्तर	28,823	12,634	41,457
(1) और (2) का योग	42,901	28,550	71,451

इस प्रकार चार वर्ष तक प्राथमिक खण्ड में शिक्षा पाने के बाद कोई भी छात्र (अगर वह आगे पढ़ना चाहे) या तो किसी धर्म-निरपेक्ष स्कूल में जा सकता है या मदरसे के अरबी खण्ड में अपनी पढ़ाई जारी रख सकता है। चूंकि अरबी खण्ड में बाहर के छात्रों को सीधे भी भरती किया जाता है इसलिए मदरसे के अरबी और प्राथमिक खण्डों में छात्रों का अनुपात हमेशा स्थिर नहीं रहता। वास्तव में मदरसा छोड़कर चले जाने वाले प्राथमिक खण्ड के छात्रों और अरबी खण्ड में आने वाले नये छात्रों का अनुपात समय-समय पर बदलता रहता है। यह बात भारत के एक प्रख्यात मदरसे लखनऊ के दारुल-उलूम नदवतुल-उलमा के विभिन्न खण्डों के छात्रों की संख्या पर आधारित नीचे दी हुई तालिका से स्पष्ट हो जायेगी :[10]

तालिका 6

दारुल-उलूम नदवतुल-उलमा के विभिन्न खण्डों में छात्रों की संख्या
(1960-1970)

वर्ष	'अ' प्राथमिक खण्ड	'ब' हाफिज खण्ड	'अ' और 'ब' का योग	'स' अरबी खण्ड	'अ' और 'ब' खण्डों की तुलना में खण्ड 'स' में छात्रों की संख्या
1960-61	300	45	345	307	—038
1961-62	273	44	317	327	+010
1962-63	389	28	417	172	—245
1963-64	339	41	380	377	—003
1964-65	410	50	460	303	—157
1965-66	452	59	511	366	—145
1966-67	420	49	469	325	—144
1967-68	415	67	482	308	—174
1968-69	471	73	544	316	—228
1969-70	482	54	536	288	—248
1970-71	550	70	620	273	—347
कुल योग	4,501	580	5,081	3,362	—1,719

5

अरबी खण्ड के छात्र को उलमा की श्रेणी मे आने में लगभग दस वर्ष लगते हैं। इस अवधि के अन्त में अधिकांश मदरसे केवल एक डिग्री देते है, फ़ाजिल, लेकिन कुछ मदरसे, जैसे देवबन्द का दारुल-उलूम और लखनऊ का दारुल-उलूम नदवतुल-उलमा, अलग-अलग स्तरों पर तीन डिग्रियाँ देता है—आलिम, फ़ाजिल और तख़स्सुस।

देवबन्द में जब छात्र सात साल की पढ़ाई पूरी कर लेने पर निर्दिष्ट पुस्तकों की अन्तिम परीक्षा पास कर लेता है, जिसमें हदीस का विशेष अध्ययन शामिल होता है, तो उसे आलिम की डिग्री दी जाती है। आलिम की डिग्री पाने के दो साल बाद फ़ाजिल की डिग्री मिलती है। इस बीच छात्र को अधिकांश समय 'तफ़सीर'

(कुरान की व्याख्या) के अध्ययन में लगाना पड़ता है। इसके बाद यदि वह अरबी साहित्य या न्यायशास्त्र (फ़िक़्ह) जैसे किसी विषय का विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहे तो उसे दो साल तक और अध्ययन करना पड़ता है। दो साल की अवधि पूरी होने पर उसे विशेषज्ञता का प्रमाणपत्र (तख़स्सुस) प्रदान किया जाता है।[11]

नदवा मे 'आलिम' की डिग्री की तैयारी मे आठ वर्ष लगते हैं। उसके बाद छात्र की प्रवृत्ति और योग्यता के अनुसार उसे (इस्लामी शरीअ. मे) 'फाजिल' की डिग्री के लिए या 'तख़स्सुस' (अरबी साहित्य मे विशेषज्ञता) की डिग्री के लिए भरती किया जा सकता है। इन दोनों ही पाठ्यक्रमो के लिए 'आलिम' की डिग्री पाने के बाद दो वर्ष का अध्ययन आवश्यक होता है। नदवा मे 'फाजिल' की डिग्री के लिए हर 'आलिम' को फ़िक़्ह (न्यायशास्त्र), हदीस (परम्पराएँ), तफ़सीर (कुरान की व्याख्या) और सम्बन्धित विषयों का अध्ययन करना पड़ता है। अरबी साहित्य मे 'तख़स्सुस' (विशेषज्ञता) की डिग्री के लिए उसे अरबी गद्य और पद्य साहित्य, सर्फ़ (शब्द-रचना), नह्व (वाक्य-विन्यास), अरूज़ (छन्द-शास्त्र), बलाग़त (अलंकार-शास्त्र), अरबी साहित्य का इतिहास, सृजनात्मक लेखन, साहित्यिक आलोचना और सम्बन्धित विषयों पर अपना ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है। दोनो ही पाठ्यक्रमों मे दो वर्ष की अवधि के अन्त मे छात्र को एक शोध-निबन्ध प्रस्तुत करना होता है, जिसके बिना उसे डिग्री नहीं दी जाती।[12]

प्रख्यात भारतीय मदरसों की 'फाजिल' की डिग्री को पश्चिमी एशिया के कुछ विश्वविद्यालयो मे, जैसे सऊदी अरब के मदीना विश्वविद्यालय मे और काहिरा के अल-अजहर विश्वविद्यालय मे इस्लामियात की बी० ए० (ऑनर्स) की डिग्री के बराबर स्थान दिया जाता है। कुछ भारतीय 'फ़ाज़िल' वहाँ जाते है और दो वर्ष के अध्ययन के बाद उन्हे इस्लामियात की एम० ए० की डिग्री के बराबर डिग्री मिल जाती है।

परन्तु इनमें से किसी भी डिग्री को भारतीय विश्वविद्यालयो की मान्यता प्राप्त नहीं है। मदरसे के स्नातक कुछ भारतीय विश्वविद्यालयों मे बी० ए० में प्रवेश के लिए ली जाने वाली प्राच्य परीक्षाओं में बैठ सकते हैं। विश्वविद्यालयो की नियमित शिक्षा प्राप्त करने के लिए उन्हे हाईस्कूल की आठवीं कक्षा से फिर से पढाई आरम्भ करनी पडती है। दिल्ली के जामिया मिल्लिया इस्लामिया (विश्वविद्यालय) में कोई भी 'फाज़िल' दो साल की पढाई के बाद हायर सेकण्डरी की परीक्षा दे सकता है। जामिया की हायर सेकण्डरी की परीक्षा पास करने के बाद वह जामिया और दूसरे भारतीय विश्वविद्यालयों में तीन वर्ष के बी० ए० के पाठ्यक्रम के प्रथम वर्ष में भरती हो सकता है।

जो लोग अल-अजहर या ऐसे ही अन्य विश्वविद्यालयों से एम० ए० की डिग्री प्राप्त करते है उन्हें आम तौर पर भारत में 'डिग्री-प्राप्त' नही माना जाता। फिर भी अरबी भाषा के ज्ञान के कारण उन्हें आम तौर पर ऐसे विभागों में कोई नौकरी मिल जाती है जहाँ अरबी भाषा का पर्याप्त ज्ञान 'वास्तविक' आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, यदि वे अंग्रेजी भी जानते हो तो उन्हे आकाशवाणी के अरबी यूनिट मे अनुवादक-एनाउंसर या पश्चिम-एशियाई या उत्तर-अफ्रीकी देशो में भारत के दूतावासों में अनुवादक-दुभाषिये की नौकरी मिल सकती है। दूसरे कामों के लिए, जैसे विश्वविद्यालयों मे पढाने के लिए इन डिग्रियों का कोई व्यावहारिक मूल्य नही होता। इन 'एम० ए० पास' लोगो को पी-एच० डी० के लिए भरती नही किया जाता, अलावा अलीगढ़ विश्वविद्यालय के जहाँ उन्हें दीनियात (धर्मशास्त्र) और इस्लामी अध्ययन के विभागों मे पी-एच० डी० के लिए भरती कर लिया जाता है।

6

मदरसे के प्राइमरी खण्ड के छात्रों के लिए मदरसे में रहना आवश्यक नही। सभी छात्रों के लिए पढ़ाई मुफ़्त होती है पर अन्य खर्च उनके माँ-बाप को उठाना पडता है। अरबी खण्ड में परिस्थिति इससे भिन्न है; पढाई मुफ़्त है और सभी छात्रों को पाठ्य-पुस्तकें मदरसे की लाइब्रेरी से मुफ़्त दी जाती हैं। इसके अतिरिक्त लगभग सभी छात्रों के लिए रहने और खाने का प्रबन्ध भी मुफ़्त ही होता है। नीचे की तालिका मे दिखाया गया है कि 1967-68 में उत्तर प्रदेश और बिहार मे *कितने छात्रो को 'पूर्णतः व्यय-मुक्त' शिक्षा दी गयी :*[13]

तालिका 7

सर्वथा व्यय-मुक्त धार्मिक शिक्षा

छात्र की कोटि	उत्तर प्रदेश	बिहार	कुल योग
1. अरबी के छात्रों की कुल संख्या	7,039	7,958	14,997
2. रहने और खाने की मुफ़्त व्यवस्था वाले छात्र	6,680	6,429	13,109
3. अन्य छात्र	359	1,529	1,888

कोटि 3 के छात्रों का खर्च भी आवश्यक रूप से उनके माँ-बाप ही देते हों, ऐसा नही है। वास्तव में बहुत-से 'अभागे गरीब' छात्र, जिनका रहने और खाने का प्रबन्ध मदरसे मे नहीं हो पाता, वे बहुधा किसी-न-किसी मस्जिद में रहते हैं और उनकी देखभाल उस बस्ती के लोग करते हैं।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, किसी भी मदरसे को अपने अरबी खण्ड के खर्च के लिए सरकार से कोई अनुदान नही मिलता; सारा खर्च बिरादरी उठाती है। मदरसे की ओर से वेतन या कमीशन पर काम करने वाले कर्मचारी शहर-शहर जाकर चन्दा जमा करते है; कुछ महत्त्वपूर्ण मदरसों को दूसरे देशों के मुसलमानों से भी पैसा मिलता है। नीचे दी हुई (फ़ेहरिस्त पर आधारित) तालिका मे बताया गया है कि 1967-68 मे उत्तर प्रदेश और बिहार के राज्यों में मुसलमानों ने मदरसो की शिक्षा पर कितना पैसा खर्च किया :

तालिका 8

उत्तर प्रदेश और बिहार मे 1967-68 मे धार्मिक शिक्षा पर व्यय की गयी धनराशि

राज्य	मदरसों की संख्या	व्यय (रुपयों मे)
उत्तर प्रदेश	170	41,61,924.00
बिहार	186	25,63,656 00
कुल योग	356	67,25,580.00

मुफ्त पढ़ाई और पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त, मदरसे के कुल बजट का लगभग एक-चौथाई भाग केवल छात्रो के रहने और खाने-पीने पर खर्च होता है। उदाहरण के लिए एक प्रमुख मदरसे देवबन्द के दारुल-उलूम का बजट देखिये :[14]

तालिका 9

देवबन्द में 1968-69 में छात्रों के खाने और रहने पर
व्यय की गयी धनराशि

मद	वास्तविक व्यय की धनराशि रुपयों मे
1. प्रति छात्र प्रति वर्ष 288 रु० की अनुमानित दर से 909 छात्रों के लिए भोजन	2,16,477.00
2. ऊपर की दर से 100 छात्रो को भोजन के बजाय नकद पैसा	29,000.00
3. प्रति छात्र प्रति वर्ष 50 रु० के हिसाब से 488 छात्रों के लिए कपड़े और जूते	24,437 00
4. प्रति छात्र प्रति वर्ष 48 रु० के हिसाब से 375 छात्रो के छोटे-मोटे खर्च के लिए अतिरिक्त अनुदान	18,000.00
5. रजाइयां और कम्बल 400 छात्रों के लिए	7,000 00
छात्रों के खाने और रहने पर 10,27,611.00 रु० के बजट में से खर्च की गयी कुल धनराशि	2,94,914.00

इसी प्रकार एक और प्रमुख मदरसे दारुल-उलूम नदवतुल-उलमा ने भी 1968-69 में अपने 4,00,000 रुपये के कुल बजट मे से लगभग 90,000 रुपया छात्रों के रहने और खाने-पीने पर खर्च किया।[15]

देश के बँटवारे के फ़ौरन बाद लगभग हर मदरसे की हालत बहुत डावाँ-डोल हो गयी थी; आमदनी के मामले मे उनकी हालत बहुत बुरी थी और छात्रों की संख्या भी घट गयी थी। लेकिन धीरे-धीरे बँटवारे से पहले की स्थिति न केवल फिर से लौट आयी बल्कि उससे भी बेहतर हो गयी। नीचे दी हुई तालिका से पता चलता है कि देवबन्द के दारुल-उलूम और लखनऊ के दारुल-उलूम नदवतुल-उलमा ने, जो कि देश के दो प्रमुख मदरसे हैं, बँटवारे के बाद के वर्षों में किस प्रकार प्रगति की है :[16]

तालिका 10

आय और छात्रों की संख्या की वार्षिक प्रगति

वर्ष	देवबन्द		नदवा	
	आय रुपयों में	छात्रों की संख्या	आय रुपयों में	छात्रों की संख्या
1945-46	3,02,720	1,160	34,884	69
1946-47	2,69,743	866	अप्राप्य	115
1947-48	2,62,583	896	अप्राप्य	110
1948-49	2,71,812	847	30,332	100
1949-50	2 47,760	868	अप्राप्य	111
1950-51	अप्राप्य	869	अप्राप्य	110
1951-52	2,62,865	920	अप्राप्य	107
1952-53	3,07,302	904	अप्राप्य	96
1953-54	2,81,599	1,000	36,671	96
1954-55	3,70,535	995	40,528	99
1955-56	4,11,379	962	45,310	126
1956-57	4,17,117	1,029	अप्राप्य	76
1957-58	4,22,244	1,008	75,729	151
1958-59	4,25,312	1,106	98,547	210
1959-60	6,78,669	1,119	1,08,967	216
1960-61	5,03,876	1,124	96,381	307
1961-62	5,22,335	1,157	2,77,247	327
1962-63	5,97,125	1,200	2,28,806	172
1963-64	6,29,056	1,176	2,48,015	377
1964-65	6,87,226	1,190	1,92,125	303
1965-66	8,08,680	1,010	2,63,099	366
1966-67	9,43,364	1,069	4,75,571	325
1967-68	9,07,021	1,126	3,60,331	308
1968-69	10,27,611	1,070	3,19,280	316
1969-70	11,26,477	974	3,35,737	288
1970-71	12,27,000	1,005	4,22,303	273

7

भारत-पाकिस्तान के उप-महाद्वीप में उर्दू भाषा के प्रचार-प्रसार में मदरसों का योगदान कितना रहा है इसका अभी तक कोई पर्याप्त मूल्यांकन नही हुआ है। सारे भारत मे हर मदरसा, चाहे वह उत्तर में हो या दक्षिण में, पूरब में हो या पश्चिम में, उच्चतर धार्मिक शिक्षा उर्दू भाषा के माध्यम से ही देता है, हालांकि पाठ्य-पुस्तकें सारी अरबी मे होती हैं। फलस्वरूप, किसी भी छात्र को अपने राज्य से भिन्न भाषा और संस्कृति वाले दूसरे राज्य के मदरसे में चले जाने में कोई कठिनाई नही होती। और सारे भारत और पाकिस्तान का हर 'आलिम' उर्दू कम-से-कम उतनी ही अच्छी जानता है जितनी कि अपनी मातृभाषा।

सभी प्रख्यात मदरसे (विशेष रूप से उत्तर भारत मे) वास्तव में बहु-जातीय और बहु-भाषी होते हैं। उनमें न केवल भारत के हर राज्य के छात्र होते हैं वल्कि अफ्रीका और एशिया के कई देशों के भी छात्र आते हैं। इन विदेशी छात्रों को भी बड़ी तेज़ी से उर्दू सीख लेनी पड़ती है ताकि वे पढ़ाई में पीछे न रह जायं।

देववन्द के दारुल-उलूम में भारतीय और विदेशी छात्रों की संख्या पर आधारित नीचे दी हुई तालिका से स्पष्ट हो जायगा कि भारतीय मदरसे किस प्रकार बहु-भाषी और बहु-जातीय हैं :[17]

तालिका 11

देवबन्द में 1970-71 में भारतीय और विदेशी छात्रों की संख्या

भारतीय छात्र (विभिन्न राज्यों के अनुसार)		विदेशी छात्र (विभिन्न देशों के अनुसार)	
उत्तर प्रदेश (प्राथमिक छात्रो सहित)	655	अफ्रीकी देश	11
बिहार और उड़ीसा	267	मलयेशिया	47
असम	114	नेपाल	5
पश्चिम बंगाल	86	श्रीलंका	1
महाराष्ट्र, गुजरात, केरल, तमिलनाडु, मैसूर और आंध्र प्रदेश	139	थाईलैंड	1
मध्य प्रदेश	13	कबोडिया	1
राजस्थान	9		
दिल्ली, हरयाणा और कश्मीर	23		
	1,306	+	66=1,372

हमें यह बात भी ध्यान में रखना चाहिये कि भारत में लगभग सारे का सारा मुस्लिम धार्मिक साहित्य उर्दू भाषा में ही प्रकाशित होता है। विभिन्न केन्द्रों से उर्दू में अनेक धार्मिक पत्रिकाएं प्रकाशित होती हैं, और इसलिए भारत में इस्लाम के बारे मे कोई भी शोध-कार्य करने के लिए उर्दू का ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

8

सन् 1865 में देवबन्द में दारुल-उलूम की स्थापना के शीघ्र ही बाद उलमा में यह आभास जागृत होने लगा कि मदरसों का पाठ्यक्रम आधुनिक युग के लिए अपर्याप्त है। उन दिनों इस परम्परागत पाठ्यक्रम के खुले आलोचकों में अल्लामा शिबली नौमानी भी थे। "उनकी सामान्य आलोचना", जैसी कि सार-रूप में फ़ैज़ी ने प्रस्तुत की है, "यह थी कि पाठ्य-सामग्री, उसके अर्थ, उसके निष्कर्षों और पाठांतरों की ओर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता है, लेकिन स्वयं उस विषय के विभिन्न पहलुओं पर कोई विचार नही किया जाता। दीनियात (धर्म-ज्ञान) की शिक्षा में दो बातों की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये : एक तो किसी विद्या विशेष को ग्रहण करना और दूसरे चिंतन की गहराई तथा स्वतन्त्र विवेक की शक्ति। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'अरबीय:' अर्थात् अरबी की वास्तविक पकड भी उस स्तर की नहीं है जितनी कि होनी चाहिये, और यह कि क़ुरान-सम्बन्धी विद्याओं की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। विशेष रूप से, कुरान की अद्वितीय शैली (इ'जाज़) की ओर तो बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। और अन्त मे, वे विद्याएँ भी जो यूनानियो से अरबो को मिली थीं बिलकुल उसी रूप मे पढ़ायी जाती है जिस रूप में वे मध्य-युग मे यूनानियों से प्राप्त हुई थी; उनमे कोई प्रगति नहीं हुई।"[18]

भारत मे विश्वविद्यालयों की शिक्षा की स्थापना के बाद से यह भी अनुभव किया जाने लगा कि दो शिक्षा-प्रणालियो के कारण शिक्षित मुसलमानों मे एक विभाजन पैदा होता जा रहा है। इस खाई को पाटने के लिए यह सोचा गया कि मदरसों के पाठ्यक्रम में इस हद तक संशोधन किया जाय कि उसमे आधुनिक शिक्षा के गुणों का समावेश तो हो जाय लेकिन साथ ही उसका 'धार्मिक' स्वरूप भी नष्ट न होने पाये। इसके लिए उलमा ने एक ऐसे मदरसे की आवश्यकता महसूस की जहाँ धर्म-निरपेक्ष और धार्मिक शिक्षा साथ-साथ दी जा सके। इस प्रकार 1892 में मजलिसे-नदवतुल-उलमा (उलमा परामर्श परिषद) की स्थापना हुई और दो वर्ष बाद लखनऊ मे एक मदरसा दारुल-उलूम नदवतुल-उलमा के

नाम से स्थापित किया गया। "लेकिन समय आने पर वे उलमा भी जो इस विचार के प्रवर्त्तक थे, नदवा मे अंग्रेज़ी और दूसरे धर्म-निरपेक्ष विषयों की शिक्षा का प्रबन्ध कराने पर सहमत न हो सके। वे कई वर्ष तक इस सवाल को टालते रहे; जब उन्हें बहुत घेरा जाता तो वे संशोधित पाठ्यक्रम आरम्भ करने पर सहमत हो जाते, पर बाद में इसे टालते रहते। यहाँ तक कि 1905 में जब मौलाना शिबली नोमानी (नदवा के) शिक्षा सचिव बने और उन्होने अंग्रेज़ी पढ़ाने का आदेश दिया तब भी तीन वर्ष तक कुछ नही हुआ। वास्तव मे उलमा का अंत.करण इस बात की गवाही नहीं देता था कि जो पैसा धार्मिक शिक्षा के लिए जमा किया गया था वह धर्म-निरपेक्ष विषय पढ़ाने पर व्यय किया जाय।"[19]

इसलिए दारुल-उलूम नदवतुल-उलमा दो सर्वथा भिन्न शिक्षा-प्रणालियो को मिलाकर एक कर देने के अपने लक्ष्य में सफल नही हुआ; नदवा के पाठ्यक्रम में संशोधन तो कई बार हुए पर कोई विशेष परिणाम नही निकला। दूसरे मदरसों की अपेक्षा दारुल-उलूम नदवतुल-उलमा में यह 'नयापन' तो बाकी रहा —और अब तक बाकी है—कि वहाँ अंग्रेज़ी भाषा पढ़ायी जाती है; पर वास्तव में मदरसों में अंग्रेज़ी के साथ 'अछूतों' जैसा बरताव किया जाता है।

सिद्धान्ततः तो उलमा लोग चाहते हैं कि मदरसो के पाठ्यक्रम में संशोधन करके उन्हें आधुनिक विश्वविद्यालयों के स्तर पर पहुँचा दिया जाय[20] पर व्यवहार में कोई भी मदरसा इस लक्ष्य को पूरा नहीं कर सका है। थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ हर मदरसे में आज भी वही 'दर्से-निज़ामी' प्रचलित है।

शायद मदरसों के पाठ्यक्रम के बारे मे अन्तिम बार गहरी दिलचस्पी मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने दिखायी थी। वह अपने समकालीन उलमा से बहुत निराश थे और उलमा की एक 'नयी पीढ़ी' तैयार करना चाहते थे।[21] इस उद्देश्य से उन्होंने 1914 में दारुल-इरशाद (मार्ग-दर्शन गृह) के नाम से कलकत्ता में एक संस्था की स्थापना की।[22] शुरू-शुरू में पहले क़दम के रूप में वह यहाँ उन उलमा की निजी राय से प्रभावित हुए बिना, जिनको आम तौर पर धार्मिक मामलात मे प्रामाणिक माना जाता था, केवल प्रामाणिक हदीसों के आधार पर क़ुरान पढाना चाहते थे। भाषा और साहित्य के क्षेत्र के नवीनतम शोध-अनुसंधानों की ओर भी पर्याप्त ध्यान देने की योजना थी।[23] लेकिन अपनी राजनीतिक व्यस्तता के कारण मौलाना आज़ाद अपनी इस योजना को पूरा न कर सके। दारुल-इरशाद की स्थापना के कुछ ही महीनो के अन्दर वह गिरफ़्तार हो गये और यह संस्था समय से पहले ही मर गयी।[24] फिर भी उन्होंने मुस्लिम शिक्षा की परम्परागत प्रणाली को बदलने का विचार कभी छोड़ा नही। बाद में चलकर असहयोग आंदोलन के दिनों में उन्होने फिर कलकत्ता मे मदरसा इस्लामिया की स्थापना की, पर यह भी थोड़े ही दिन चला।[25] इसके बाद मौलाना

को स्वयं तो कोई मदरसा स्थापित करने का समय ही नहीं मिला, पर वह उलमा लोगों से यह अनुरोध अवश्य करते रहे कि वे मदरसों के पाठ्यक्रम में संशोधन करें और उन्हें आधुनिक ढंग से चलायें।

सन् 1937 में जब कांग्रेस ने उत्तर प्रदेश में अपना मंत्रिमंडल बनाया और मौलाना आजाद इस स्थिति में थे कि धार्मिक पाठशालाओं के क्षेत्र में किसी नये प्रयोग के लिए वित्तीय सहायता जुटा सकें, तो उन्होंने दारुल-उलूम नदवतुल-उलमा के अधिकारियों से अनुरोध किया कि वे कोई साहसपूर्ण कदम उठायें। लेकिन इससे पहले कि कुछ होता कांग्रेस मंत्रिमंडल ने इस्तीफ़ा दे दिया। *स्वतन्त्रता के बाद जब वह भारत के शिक्षा-मंत्री थे तो उन्होंने एक बार फिर* दारुल-उलूम नदवतुल-उलमा के ट्रस्टियों को समझाया-बुझाया कि वे अपनी शिक्षा-पद्धति को आधुनिक बनायें। इस बार भी वह भारत-सरकार पर इस बात के लिए दबाव डालने को तैयार थे कि वह इस प्रकार के प्रयोग का खर्च उठाये। लेकिन नदवा के अधिकारी उनसे सहमत नहीं हुए; उन्होंने मौलाना आजाद से कहा कि हमें आप पर तो पूरा भरोसा है लेकिन हमें डर है कि जब आप इस पद पर नहीं रहेंगे तो सरकार हमारे धार्मिक मामलात में हस्तक्षेप करेगी।[26]

9

आज परिस्थिति यह है कि मदरसों के छात्रों को अब भी ऐसे विषय पढ़ाये जाते हैं जिनका उनके दैनिक जीवन से शायद ही कोई सम्बन्ध हो। उन्हें आधुनिक ज्ञान के साधनों से सम्पन्न किये बिना ही यह मान लिया जाता है कि वे आधुनिक और वैविध्यपूर्ण समाज में 'ईश्वरीय संदेश' के प्रचार के लिए पूरी तरह तैयार और शिक्षित हो गये हैं। अपने व्याख्यानों में उलमा लोग इस बात पर जोर अवश्य देते हैं *कि मुसलमानों को पश्चिमी देशों के* भौतिक विज्ञानों और प्रौद्योगिकी (टेक्नोलॉजी) का पूर्णतम लाभ उठाना चाहिए; उन्हें इनका पूरा दिल *लगाकर अध्ययन करना चाहिए और फिर अपनी बुद्धि और अध्यवसाय के बल* पर उन्हें उन उच्च उद्देश्यों के अधीन कर देना चाहिए जो उन्हें अन्तिम रसूले-पाक से उत्तराधिकार में मिले हैं और जिन उद्देश्यों के कारण उन्हें 'श्रेष्ठतम लोग' होने का गौरव प्राप्त हुआ है।[27] पर दुर्भाग्यवश इस 'उच्च उद्देश्य' को प्राप्त करने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। छात्रों को पाठ्यक्रम से बाहर की पुस्तकें पढ़ने से निरुत्साह किया जाता है और उनसे कहा जाता है :

तुम्हारी पढ़ने की मेज सार्वजनिक पुस्तकालय की मेज़ नही है। यह एक मदरसे की मेज़ है।...हमारी अलमारियों में कोई ऐसी किताब नही मिलेगी जिसे पढ़कर आदमी हफ़्तों मानसिक उलझन में पड़ा रहे। कोई भी ऐसी पुस्तक नही पढी जानी चाहिए जो उन चिर-पोषित आदर्शों के प्रति शंका पैदा करे जो कि हमारे मदरसों की आधार-शिला हैं।[28]

इसीलिए तो फ़ैज़ी साहब ठीक ही कहते है :

(1) उलमा लोग आम तौर पर पश्चिमी देशों के प्राच्यविदों के काम से अपरिचित हैं और अगर कभी भूले-भटके इनमे से कुछ गवेषणाओं की उन्हें जानकारी हो भी जाती है, तो उनके प्रति ऐसा विरोध का रवैया अपनाया जाता है जो धर्मांधता से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। (2) विज्ञान, दर्शन, इतिहास या धर्म के तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र मे होने वाली आधुनिक प्रगतियों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। (3) अन्य शामी (सेमिटिक) भाषाओं, जैसे सीरियाई, हीब्रू, अरमाई, या इथियोपियाई (अबीसीनियाई) भाषाओं की जानकारी को आवश्यक नही समझा जाता, जो कि भाषा-सम्बन्धी किसी भी शोध-कार्य के लिए अनिवार्य है। (4) अंग्रेज़ी, फ़ासीसी या जर्मन जैसी आधुनिक यूरोपीय भाषाओं की जानकारी को व्यर्थ समझा जाता है। इसलिए यह बात स्पष्ट है कि इस प्रकार के मदरसों में जो धार्मिक शिक्षा दी जाती है उसमे बीसवी शताब्दी के दृष्टिकोण से बहुत-सी कमियाँ रह जाती हैं। इस शिक्षा-दीक्षा की तुलना किसी आधुनिक पाश्चात्य विश्वविद्यालय की धर्म-ज्ञान की डिग्री के साथ नही की जा सकती, क्योकि इसमें धर्मों के इतिहास, धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन, तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान या तत्व-मीमांसा का पर्याप्त ज्ञान, जैसा कि उन्हें आजकल समझा जाता है, प्राप्त करने का कोई प्रयत्न नही होता।[29]

यहाँ पर भारतीय शिक्षा-पद्धति के संस्थागत ढाँचे की एक विशिष्टता को ध्यान में रखना आवश्यक है। बी० ए० की कक्षाओं में प्रवेश के लिए भारतीय विश्वविद्यालय मदरसों के 'फ़ाज़िल' के प्रमाणपत्र को मान्यता नही देते; परन्तु स्वयं इनमे से कुछ विश्वविद्यालयों की प्राच्य परीक्षाओं ('फ़ाज़िल', 'कामिल' आदि) के लिए जो योग्यता आवश्यक समझी जाती है उसके लिए यही शिक्षा पर्याप्त से अधिक होती है। और फिर इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने पर छात्र को बी० ए० की कक्षा में प्रवेश मिल सकता है। फलस्वरूप आधुनिक शिक्षा की

सम्भावना से आकर्षित होने वाले मदरसों के स्नातकों की संख्या बढ़ती जा रही है। समय बचाने के लिए मदरसों की ऊँची कक्षाओं के कुछ छात्र चोरी-छिपे विश्वविद्यालयों की प्राच्य परीक्षाओं में बैठने की कोशिश करते हैं। मदरसों के अधिकारी इस बात को पसन्द नहीं करते, क्योंकि इसमें उन्हें परम्परागत शिक्षा-पद्धति की साख के लिए एक खतरे का पूर्वाभास होता है। न केवल यह कि वे अपने छात्रों को विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं में बैठने की अनुमति नहीं देते, बल्कि वे इस बात को भी नापसन्द करते हैं कि उनके स्नातक विश्वविद्यालयों की शिक्षा की ओर खिंचकर चले जायं। कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जब मदरसों के अधिकारियों को पता चल गया है कि उनका कोई छात्र विश्वविद्यालय की परीक्षा में बैठा है, और उस छात्र को मदरसे में अपनी शिक्षा जारी रखने से रोक दिया गया है। इसके फलस्वरूप कई बार छात्रों में असन्तोष भी पैदा हुआ है,[30] परन्तु मदरसों की संगठन-व्यवस्था में अधिकारियों के प्रभुत्व की तुलना में छात्रों के अधिकार नगण्य होते हैं।

मदरसे और विश्वविद्यालय दोनों जगह के पढ़े हुए इस नयी कोटि के स्नातकों की संख्या अभी तक बहुत थोड़ी है। इस समय उन्हें 'उलमा' नहीं माना जाता, जब तक कि वे पूरी तरह अपने-आपको परम्परागत धार्मिक आचार-व्यवहार के अधीन न कर दें। चूंकि विश्वविद्यालयों के स्नातकों में से इने-गिने ही ऐसा करते हैं, इसलिए मदरसों के स्नातकों की पुरानी और नयी पीढ़ी में अन्तर पैदा होता जा रहा है। आने वाले वर्षों में सम्भव है कि मुस्लिम समाज इस नये वर्ग को उलमा का स्थान दे दे। उस समय तक तो भारत में मुस्लिम धार्मिक शिक्षा-पद्धति वैसी ही रहेगी जैसी कि आज है।

टिप्पणियाँ

1. एम० मुजीब, 'द इंडियन मुस्लिम्स', लन्दन, जार्ज एलेन एण्ड अनविन, 1966, पृ० 409
2. मैंने यह तालिका और आगे की कुछ तालिकाएँ अंजुमन निदा-ए-इस्लाम, कलकत्ता की ओर से हर वर्ष प्रकाशित होने वाली 1969 की 'फेहरिस्ते-मदारिसे-अरबीयः दीनीय.' ('अरबी धार्मिक मदरसों की सूची' : आगे चलकर इसका उल्लेख केवल 'फ़ेहरिस्त' के नाम से किया गया है) में उपलब्ध जानकारी के आधार पर तैयार की हैं; यह 'फेहरिस्त' मुस्लिम दानियों को इस बात से अवगत रखने के लिए प्रकाशित की जाती है कि कितने मदरसे चल रहे हैं, मुख्यत. उ० प्र० और बिहार में। जो मदरसे 1969 में बन्द हो चुके थे उनका उल्लेख 'फेहरिस्त' में नहीं मिलता और मेरे पास उनकी संख्या मालूम करने का कोई उपाय नहीं है। परन्तु अपनी जानकारी के आधार पर मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि फेहरिस्त में जो संख्या दी गयी है वह इन दोनों राज्यों के मौजूदा मदरसों से बहुत कम है; फिर भी मैंने 'फेहरिस्त' को ही मुख्य स्रोत माना है।
3. आसफ ए० ए० फ़ैज़ी, 'ए मॉडर्न एप्रोच टु इस्लाम', बम्बई, एशिया, 1963, पृ० 63

4 'फ़ेहरिस्त' : देखिये नोट 2
5. पूर्ववर्ती पाठ्यक्रमों के लिए देखिये (1) जी० एम० डी० सूफी, 'अल-मिनहाज : बीइंग द एवल्यूशन ऑफ़ करीकुलम इन द मुस्लिम एजुकेशनल इंस्टीच्यूशन्स ऑफ़ इंडिया', लाहौर, 1941; (2) मौलाना अबुल-हसनात नदवी, 'हिन्दुस्तान की क़दीम इस्लामी दर्सगाहें', आज़मगढ़, दारुल-मुसन्निफ़ीन, 1936
6. एम० मुजीब, पूर्वोक्त, पृ० 407
7. फ़ैज़ी, पूर्वोक्त, पृ० 67
8. देवबन्द के पाठ्यक्रम का पूरा विवरण और सारी पुस्तकों के नाम ज़िया-उल-हसन फ़ारुकी की पुस्तक 'द देवबन्द स्कूल एण्ड द डिमांड फ़ार पाकिस्तान', में मिल जायंगे, बम्बई, एशिया, 1963, पृ० 33 और उसके आगे। सूफी की पूर्वोक्त पुस्तक में पृ० 127-132 पर पुस्तकों के नामों के साथ यह भी दिया गया है कि देवबन्द में किस पाठ्य-पुस्तक के कितने पृष्ठ अध्ययन के लिए निर्धारित किये गये हैं।
9 'फ़ेहरिस्त' : देखिये नोट 2
10. दारुल-उलूम नदवतुल-उलमा, लखनऊ के कार्यालय से प्राप्त सूचना।
11. अब्दुल हलीम नदवी, 'मराकिज़ अल-मुस्लिमीन अल-तालीमीय: व-स-सकाफ़ीय व-ल-दीनीय: फ़ि-ल-हिन्द', (अरबी पाठ : 'भारत में मुस्लिम शैक्षिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक केन्द्र'), लेखक द्वारा प्रकाशित, जामियानगर, नई दिल्ली, 1967, पृ० 3-4
12. उपर्युक्त, पृ० 38-41
13 'फ़ेहरिस्त' : देखिये नोट 2
14. दारुल-उलूम देवबन्द के अमीर के कार्यालय की ओर से बिजनौर के उर्दू अर्ध-साप्ताहिक 'मदीना' में प्रकाशित वर्ष 58, अंक 79, 9 नवम्बर, 1969
15. यह घोषणा दारुल-उलूम नदवतुल-उलमा के रेक्टर मौलाना अबुल-हसन अली नदवी ने की थी और उसके सरकारी उर्दू पाक्षिक 'तामीरे-हयात', लखनऊ में प्रकाशित हुई थी, वर्ष 7, अंक 1, 10 नवम्बर, 1969, पृ० 19
16. मुझे ये आंकड़े दारुल-उलूम देवबन्द और दारुल-उलूम नदवतुल-उलमा के दफ़्तरों से मिले हैं।
17. यह तालिका दारुल-उलूम देवबन्द की ओर से प्रकाशित 'अहकामे-रमज़ानुल-मुबारक, 1391/1971 मा तरकीबें-नमाज़े-ईदुल-फ़ित्र' में प्राप्य आंकड़ों पर आधारित है, 1971, पृ० 14
18. फ़ैज़ी, पूर्वोक्त, पृ० 67
19 मुजीब, पूर्वोक्त, पृ० 409
20 मौलाना क़ाज़ी जैनुल-आबिदीन सज्जाद का लेख 'हिन्दुस्तान के अरबी मदारिस और उनके निसाबे-तालीम पर एक नज़र', उर्दू त्रैमासिक 'इस्लाम और अस्ले-जदीद', वर्ष 2, अंक 1, जनवरी, 1970, पृ० 33-53
21. 'तबर्रुकाते-आज़ाद' (आज़ाद के पत्रों का संकलन), सम्पादक गुलाम रसूल मेह्र, लाहौर, 1959, पृ० 39
22. आज़ाद, अपने साप्ताहिक 'अल-हिलाल', कलकत्ता में, वर्ष 5, अंक 5, 29 जुलाई, 1914, पृ० 5-8
23. 'तबर्रुकाते-आज़ाद' (देखिये नोट 21) पृ० 133-134

24. देखिये मेरी पुस्तक 'मुस्लिम पॉलिटिक्स इन मॉडर्न इंडिया', मेरठ, मीनाक्षी, 1970, अध्याय 8, पृ० 138-139
25. अब्दुर्रज्जाक़ मलीहाबादी, 'ज़िक्रे-आज़ाद', कलकत्ता, 1960, पृ० 44 और उसके आगे।
26. मौलाना अब्दुस्सलाम क़िदवई नदवी का लेख 'मौलाना आज़ाद की एक आरज़ू', मासिक 'जामिया.', नई दिल्ली, वर्ष 48, अंक 4, अप्रैल 1963
27. मौलाना अबुल-हसन अली नदवी 'वेस्टर्न सिविलिज़ेशन—इस्लाम एण्ड मुस्लिम', उर्दू से डॉ० मुहम्मद आसिफ़ क़िदवई का अनुवाद, लखनऊ एकेडेमी ऑफ़ इस्लामिक एण्ड रिसर्च एण्ड पब्लिकेशन्स, 1969, पृ० 196
28 मौलाना अबुल-हसन अली नदवी का भाषण दारुल-उलूम नदवा के छात्रों के सामने, 'तामीरे-हयात', लखनऊ, वर्ष 6, अंक 13, 10 मई, 1969, पृ० 12
29 फ़ैज़ी, पूर्वोक्त, पृ० 68-69
30. इस प्रकार की एक घटना के विवरण के लिए देखिये, उदाहरणार्थ, 'तामीरे-हयात', लखनऊ, 10 जुलाई, 1970 का अंक (इससे पहले और बाद के भी कुछ अंक देखिये)।

4

धार्मिक पथ-प्रदर्शन

परिपाटी की प्रामाणिकता

मदरसा शिक्षा देने का स्थान होता है; साथ ही वह समाज का पथ-प्रदर्शन करने वाली संस्था भी होता है। जिन लोगों को धर्म से—दूर का भी—सम्बन्ध रखने वाली किसी समस्या के बारे में कोई शंका होती है, वे अपने प्रश्न (इस्तिफ़्ता) उलमा के पास भेज सकते हैं और कोई पैसा दिये बिना उस समस्या का समाधान प्राप्त कर सकते हैं। इस भूमिका में उलमा को मुफ़्ती कहा जाता है और वे समस्या का जो उत्तर देते हैं उसे फ़तवा (बहु० फ़तावा) कहते हैं। कुछ उलमा जिनके बारे मे लोग जानते हैं कि उन्होने फ़िक़्ह (क़ानून) का अध्ययन किया है, और फतवे तैयार करने का विशेष ज्ञान रखते हैं, उनके पास लोग अपनी समस्याएँ लेकर निजी हैसियत से भी जाते हैं। कुछ मदरसे अपने फ़तवा विभाग में, जिसे दारुल-इफ़्ता कहते हैं, इस काम के लिए कुछ उलमा को नौकर भी रखते हैं।

हालांकि 'मुफ़्ती' के सामने समस्या (इस्तिफ़्ता) प्रस्तुत करने की कोई निश्चित विधि नहीं है, परन्तु व्यवहार में वह इस प्रकार आरम्भ होती है : "क्या फ़रमाते है उलमा-ए-दीन इस मसले के बीच", और उसके बाद समस्या को प्रमेय के रूप में प्रस्तुत किया जाता है और उस समस्या से सम्बन्धित वास्तविक पक्षो की जगह काल्पनिक नाम लिखे जाते है ताकि उन्हें पहचाना न जा सके। समस्या के अन्त में यह दुआ लिखी होती है : "बराहे-करम इसकी वज़ाअत (स्पष्टीकरण) की जाय और ख़ुदा आपको इस वज़ाअत का सवाब दे।" मुफ़्ती अपने उत्तर मे मुस्लिम क़ानून के पुराने विद्वानों के हवाले देता है और अन्त में लिखा देता है : "वल्लाहो आलम बिस्सवाब।"* यदि फतवा किसी महत्त्वपूर्ण

* सही क्या है यह तो अल्लाह ही जानता है, जो सब-कुछ जानता है।—अनु०

समस्या के बारे में होता है और उसमें दूसरे उलमा का समर्थन आवश्यक होता है तो वे उसके नीचे अपने हस्ताक्षर भी कर देते हैं और स्पष्ट शब्दों मे लिख देते हैं कि "उत्तर सही है।"[1]

धार्मिक अथवा धर्मेतर समस्याओ के बारे मे प्रामाणिक मत जानने की यह परम्परा पैगम्बर के समय से चली आती है। बाद मे लोग प्रामाणिक मत के लिए उनके साथियों के पास जाने लगे, परन्तु इस्लाम की पहली शताब्दी का अन्त होते-होते (आठवी शताब्दी ईसवी के आरम्भ में) यह पद्धति धीरे-धीरे संस्थागत रूप धारण करती गयी; लोग उन्ही लोगों के पास जाते थे जिनके बारे में उन्हें निश्चित रूप से मालूम हो कि वे पैग़म्बर या उनके साथियों की डाली हुई परम्पराओं के दृष्टान्तों के आधार पर निष्कर्ष रूप मे समस्या का समाधान निकालने की विशेष योग्यता और ज्ञान रखते है। लोग विशेष रूप से ध्यान देकर यथासम्भव अधिक-से-अधिक समस्याओं और उनके उत्तरों को दर्ज कर लेते थे, बस सम्बन्धित पक्षों के नाम छोड देते थे; इस प्रकार इस क्षेत्र से सम्बन्धित साहित्य का विपुल भण्डार जमा होता गया।

फ़िक़्ह के किसी भी प्रमुख ग्रन्थ को सरसरी दृष्टि से भी देखने पर पता चल जाता है कि जीवन का शायद ही कोई पहलू ऐसा होगा जिसके बारे मे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कोई दृष्टान्त न मिल जाय। उदाहरण के लिए, फ़िक़्ह साहित्य के एक प्रामाणिक ग्रन्थ हिदायः (हिदायत) में मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओ के बारे मे सत्तावन अध्याय हैं। पहले पाँच शुद्धता तथा स्वच्छता, रोजा, नमाज़, ख़ैरात और हज आदि आधारभूत धार्मिक कर्तव्यों के नियमों के बारे मे हैं। इसके बाद शादी, तलाक़, गुलाम, अपराध और दण्ड, युद्ध और शान्ति, सरकारी टैक्स, सरकारी खज़ाना, धर्म-त्याग, विद्रोह, साझेदारी, न्यास (ट्रस्ट), वाणिज्यिक व्यवहार, न्याय-प्रशासन, गवाही, अमानत, तोहफ़ा, पारिश्रमिक, ग़बन, हक़े-शफ़ा (पूर्वक्रय का अधिकार), कृषि की भूमि और फलो के बाग के लगान और मालगुज़ारी का मूल्यांकन, गिरवी, हत्या आदि जैसे गम्भीर अपराध और इन अपराधों का शिकार होने वालो की क्षति-पूर्ति और अन्य प्रकार की क्षति के लिए क्षति-पूर्ति, शरण और पनाह, वसीयत आदि-आदि विषयो से सम्बन्धित अध्याय हैं।[2]

2

आधुनिक शोध-कार्य और विद्वत्ता की दृष्टि से तो फ़िक़्ह का साहित्य बहुत ही शिक्षाप्रद और उपयोगी है ही; परन्तु उलमा की दृष्टि मे आधुनिक जीवन से

सम्बन्ध रखने वाली सभी समस्याओं के बारे में निर्णय देने के लिए यह एकमात्र प्रामाणिक आधार है। यह तो आशा करना व्यर्थ ही है कि मध्ययुगीन फ़ुक़हा ('फ़िक़्ह' अर्थात् क़ानून के ज्ञाता) ने आधुनिक जीवन की जटिलताओं को भी अपने ज्ञान की परिधि में समेट लिया होगा। परन्तु मुफ़्ती यह मानकर कि इसी से मिलती-जुलती कोई परिस्थिति पहले भी उत्पन्न हुई होगी, फ़िक़्ह के किसी ग्रन्थ के पन्ने उलटता है और फ़ौरन कोई समाधान ढूंढ निकालता है। उदाहरण के लिए, नसबन्दी के ऑपरेशन को ले लीजिये, जो कि आजकल की परिवार-नियोजन की मुहिम का एक अंग है। बुनियादी तौर पर यह आधुनिक युग की चीज़ है; समझ लीजिए अब से एक हज़ार वर्ष पहले लिखी गयी पुस्तकों में तो इसके बारे में कोई निर्णय पाये जाने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। फिर भी जब इस समस्या के बारे में फ़तवा मांगा गया तो उत्तर यह था कि नसबन्दी के ऑपरेशन को वर्जित (हराम) माना जाना चाहिए,[3] उस परम्परा के आधार पर कि पैग़म्बर ने अपने कुछ साथियों को काम-वासना से मुक्त होने के लिए अपने-आपको बधिया करा लेने से मना किया था।[4]

नसबन्दी और बधिया करने के बीच समानताएँ भी हैं और असमानताएँ भी। नसबन्दी कराने के बाद आदमी में मैथुन की क्षमता बाकी रहती है, जो कि बधिया होने के बाद बिलकुल नष्ट हो जाती है; परन्तु दोनों ही के बाद कोई पुरुष किसी स्त्री के गर्भ नहीं ठहरा सकता, इस दृष्टि से नसबन्दी बधिया करा लेने के समान है।[5] इसी प्रकार अन्य किसी रूप में भी परिवार-नियोजन को वर्जित (हराम) माना जाता है, इसलिए कि यह अल्लाह के प्रति आस्था की कमी का प्रदर्शन है क्योंकि उसने वायदा किया है : "इस पृथ्वी पर कोई प्राणी ऐसा नहीं है जिसके भरण-पोषण का दायित्व अल्लाह ने अपने ऊपर न लिया हो।"[6] इसलिए भोजन और जीवन की अन्य सुविधाओं के अभाव के भय से गर्भ-निरोध का प्रयत्न करना शरीअः के विरुद्ध है।[7] इस प्रकार दृष्टान्त की प्रणाली का सहारा लेकर मुफ़्ती किसी भी समस्या का समाधान खोज सकता है, और आम तौर पर खोज देता है।[8]

3

पैग़म्बर की डाली हुई परम्परा के अनुसार मुफ़्ती को पहले क़ुरान की सहायता लेनी चाहिए और यदि उसमें पर्याप्त समाधान न मिले तो फिर उसे सुन्नते-रसूल (रसूल की परम्परा) का सहारा लेना चाहिए। यदि दोनों ही में कोई सीधा समाधान न मिले तो मुफ़्ती को इन दोनों स्रोतों में से निकाले गये निष्कर्षों को

अपने निर्णय का आधार बनाना चाहिए।[9] परन्तु हमारे युग में मुफ़्ती लोगों में लगभग पूरी तरह मुस्लिम क़ानून के मध्ययुगीन विद्वानों की राय पर ही भरोसा करने की प्रवृत्ति रही है; इस प्रकार होता यह है कि आज की बहुत-सी समस्याओं का सम्बन्ध तो आधुनिक युग से होता है पर उनका समाधान आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल नही होता।

हमारे युग के मुफ़्ती के पास राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून, अर्थव्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणाली, राजनीति, वाणिज्य आदि क्षेत्रों की समस्याओं का समाधान करने के लिए पर्याप्त साधन नही होते; फिर भी वह इन सभी विषयों के बारे में फतवा दे देने में तनिक भी संकोच नही करता। फलस्वरूप, बहुधा हमारे सामने ऐसे फ़तवे आते हैं जो मध्ययुगीन मापदण्ड से तो उचित हो सकते हैं, पर आधुनिक दृष्टिकोण से सर्वथा अस्वीकार्य होते हैं। उदाहरण के लिए, निम्नलिखित प्रश्न और उसका उत्तर पढ़िये :

प्र० कुछ लोग कागज की विदेशी मुद्रा उसके निर्धारित मूल्य से कम पर खरीदते हैं और फिर उसे (चोरी-छिपे !) उस देश में, जहाँ वह जारी की गयी थी, भेजकर निर्धारित मूल्य या उससे भी ऊँची दर से बेचते हैं। शरीअः के अनुसार यह सौदा जायज है या नही ?

उ० विभिन्न देशों को कागज की मुद्रा का मूल्य अलग-अलग होता है, और सरकारी विनिमय दर से स्वतन्त्र रूप से भी उसका विनिमय किया जा सकता है। इसलिए किसी काग़ज़ी मुद्रा विशेष को उसके निर्धारित मूल्य से कम पर खरीदना और फिर निर्धारित मूल्य पर या उससे अधिक मूल्य पर बेचना धार्मिक दृष्टि से जायज है।[10]

कुछ लोग इस सौदे को मुद्रा की कालाबाजारी मानेंगे जिसके लिए दण्ड दिया जा सकता है और शायद धार्मिक दृष्टि से भी वे इसे गुनाह समझें। लेकिन, फ़िक़्ह की प्राचीन पुस्तकों मे काग़ज़ी मुद्रा के बारे मे कुछ भी नहीं लिखा है। उनमें सिक्कों से सम्बन्धित तो अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनका मूल्य कोई अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणाली न होने के कारण इस आधार पर आंका जाता था कि किसी सिक्के में कितना सोना या कितनी चाँदी है। यदि मुफ़्ती को अपने मदरसे मे आधुनिक विषय पढ़ाये गये होते तो वह इस प्रश्न में निहित इस आशय को पकड़ लेता कि एक गैर-क़ानूनी काम के लिए धर्म की अनुमति प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है। परन्तु, चूँकि वह इन विषयों से परिचित नही था, इसलिए उसने आधुनिक और मध्ययुगीन मुद्रा-प्रणाली को एक जैसा ही मानकर

श्रौर बैंक के नोट को काग़ज़ का एक टुकड़ा मात्र समझकर प्रश्न पूछने वाले को मनमानी करने की छूट दे दी।

4

यद्यपि हर व्यक्ति फतवा अपने निजी सन्तोष के लिए ही मांगता है फिर भी उस पर कोई रोक नहीं है कि वह उसे सार्वजनिक रूप से किसी की, उदाहरण के लिए किसी 'विधर्मी' की, निन्दा करने के लिए इस्तेमाल न करे। चूंकि मुफ़्ती समस्या के गुण-दोष की छानबीन किये बिना ही केवल प्रश्न के शब्दों के आधार पर अपना निर्णय देता है, इसलिए यह बिलकुल सम्भव है कि कोई आदमी अपने प्रश्न के लिए शब्दों का चुनाव सावधानी के साथ करके अपनी पसन्द का फतवा प्राप्त कर ले। उदाहरण के लिए, इसकी एक बहुत अच्छी मिसाल पर ध्यान दीजिये।

दिल्ली की जामा मस्जिद के नायब-इमाम मौलाना सैय्यद अब्दुल्ला बुखारी ने एक बयान में कहा कि मुसलमानों को भी परिवार-नियोजन का पालन करना चाहिए और यदि आवश्यक हो तो गर्भ-निरोध के लिए अपना ऑपरेशन भी करवा लेना चाहिए। जो कुछ मौलाना बुखारी ने कहा था उसे परिभाषा के अनुसार फतवा तो नहीं कहा जा सकता, हद-से-हद यह उनकी निजी राय थी, जिसे व्यक्त करने का उन्हें पूरा अधिकार था। परन्तु चूंकि इसका प्रचार परिवार-नियोजन विभाग की ओर से एक फ़तवे के रूप में किया गया[11] इसलिए कुछ मुसलमानों ने इस पर आपत्ति की और दिल्ली के तथा देवबन्द के दारुल-उलूम के उलमा से इस बात का निर्णय करने की मांग की कि इस प्रकार का फ़तवा देने के बाद नायब-इमाम को नमाज पढ़ाने का अधिकार रह गया या नहीं। मुफ़्ती लोगों ने इस बात की छानबीन किये बिना ही कि मौलाना बुखारी ने इस प्रकार का फ़तवा दिया भी था या नहीं, घोषणा कर दी कि उनका नमाज पढ़ाना अनुचित है और वह नमाज हराम होने के बराबर (मकरूहे-तहरीमी) है।[12]

इस प्रकार के चरित्र-हनन करने वाले फतवों को देखते हुए किसी का यह कहना ठीक ही है : 'देखने में तो यह (फतवे की) प्रणाली लोकतान्त्रिक लगती है, क्योंकि इस प्रकार समाज उन लोगों के बहुमत की राय जान सकता है जो अपने ज्ञान के आधार पर राय देने का अधिकार रखते हैं, पर वास्तव में यह एक प्रकार की धार्मिक यन्त्रणा है जिसकी शुरुआत समाज का कोई भी सदस्य कर सकता है।"[13]

5

फिर भी हमारे पास यह पता लगाने का कोई साधन नही है कि समाज के लोग फतवों का पालन किस हद तक करते हैं। उदाहरण के लिए, हम पूरे विश्वास के साथ नहीं बता सकते कि परिवार-नियोजन के विरुद्ध जो फ़तवा जारी किया गया था उसका पालन मुस्लिम समाज ने वास्तव मे किया या नही। यह तो हो सकता है कि जो लोग गर्भ-निरोध के विरोधी थे उन्हें उस फ़तवे से एक ऐसी चीज़ से बचने का बहाना मिल गया है जिससे बचने का उन्होने पहले ही से निर्णय कर रखा था; और उतनी ही बड़ी हद तक यह भी सम्भव है कि जो लोग गर्भ-नियंत्रण के लिए कृत्रिम साधनों का प्रयोग करते आये थे उन्होने उस फतवे की ओर कोई ध्यान ही न दिया हो क्योकि ऐसी संस्था के अभाव में, जो कि फ़तवे का पालन करा सके, उसका पालन करना या न करना धर्म के प्रति हर व्यक्ति के निजी रवैये पर निर्भर है। इस प्रसंग में हम लाटरी के बारे में एक फ़तवे पर विचार करेंगे। लगभग हर भारतीय राज्य ने अपनी 'सरकारी' लाटरी चला रखी है, जिसमें हर महीने एक रुपये के टिकट पर बड़े-बड़े नकद इनाम दिये जाते हैं। किसी ने दारुल-उलूम नदवतुल-उलमा के मुफ़्ती से पूछा कि लाटरी का टिकट खरीदना धार्मिक दृष्टि से वर्जित है या नही ? उत्तर मिला : "लाटरी जुआ है; इसलिए हराम है; और इसलिए इनाम मे जीती गयी रकम भी नाजायज है।"[14]

निश्चित रूप से इस फतवे से तो कोई भी मुफ्ती असहमत नही होगा, लेकिन यह भी नही कहा जा सकता कि इस फतवे की वजह से मुसलमानों ने लाटरी में अपनी किस्मत आज़माना छोड़ दिया है। हमारे पास इसके तो कोई आंकड़े नही हैं कि जो मुसलमान लाटरी के टिकट खरीदते हैं उनका अनुपात देश की कुल मुस्लिम आबादी में कितना है, लेकिन यह सच है कि बहुत-से मुसलमान लाटरी के टिकट खरीदते हैं और एक दिन लखपति बन जाने का सपना देखते हैं। अगर ऐसा न होता तो विभिन्न राज्यो के लाटरी निदेशालय उर्दू के उन अर्ध-धार्मिक समाचार-पत्रो मे इतने बड़े-बड़े विज्ञापन न देते, जिन्हें बहुधा वही लोग पढ़ते है जिनसे आशा की जाती है कि वे अपने हर काम के लिए फतवे का सहारा लेंगे।[15]

6

ऐसा नही है कि हमारे युग के भारतीय उलमा इस बात से अपरिचित हो कि किसी आधुनिक समस्या के समाधान के लिए मध्ययुगीन दृष्टान्तों पर आंख मूंद-

कर विश्वास कर लेने से उनके समाज के लोगों को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वे इस बात को समझते हैं पर उनके हाथ बँधे हुए हैं; वे इन दृष्टान्तों की उपेक्षा नहीं कर सकते। हद-से-हद वे उनकी 'आधुनिक' व्याख्या कर सकते हैं। इस सिलसिले में दारुल-उलूम नदवतुल-उलमा पहला भारतीय मदरसा था जिसने 1963 में उलमा की एक परिषद् संगठित की जिसका नाम था मजलिसे-तहक़ीक़ाते-शरीअः। इस मजलिस की योजना यह थी कि वह बीमे और ब्याज पर दिये जाने वाले सरकारी ऋण आदि जैसी महत्त्वपूर्ण समस्याओं को लेकर उन्हें एक प्रश्नावली के रूप में भारत और पाकिस्तान के प्रख्यात उलमाओं के पास भेजती थी। फिर इस मजलिस के सदस्य जमा होकर इन उत्तरों पर अच्छी तरह विचार करने के बाद अपने निर्णय की घोषणा करते थे।[16] कुछ मामलों में मजलिस उन उलमा की राय को भी स्वीकार कर लेती थी जो दृष्टान्तों से अलग रहकर अपने निर्णय पर पहुँचे थे। उदाहरण के लिए, बीमे के सवाल पर मजलिस के पास केवल ग्यारह उलमाओं के उत्तर आये, जिनमें से छः ने मुसलमानों के बीमा कराने का विरोध किया था; मजलिस ने लगभग सर्वसम्मति से अल्पमत की राय को स्वीकार कर लिया और 1965 में घोषणा की कि कुछ परिस्थितियों में जीवन और सम्पत्ति का बीमा कराने की इजाज़त है।[17]

यह वास्तव में इज्तहाद के 'बन्द' दरवाज़े खोलने की, अर्थात् शरीअः की पुनर्व्याख्या की दिशा में एक कदम था। परन्तु इसकी सम्भावना बहुत कम दिखायी देती है कि भारतीय मुसलमानों के धार्मिक जीवन पर इस मजलिस का कोई गहरा या स्थायी प्रभाव पड़े; क्योंकि यद्यपि वह आधुनिक समस्याओं के समाधान खोजती है पर इसके सभी सदस्य परम्परागत शिक्षा पाये हुए उलमा हैं। बीमे, चाँद के दिखायी देने[18] और ब्याज पर मिलने वाले सरकारी कर्ज़ आदि जैसी समस्याओं पर विचार करते समय भी मजलिस ने इन विषयों के विशेषज्ञों से कोई परामर्श नहीं किया—शायद इसलिए कि इन विशेषज्ञों को उलमा नहीं माना जाता। वित्त और ऋतु-ज्ञान की जटिल समस्याओं पर भी विचार करते समय ये इन विद्याओं की मध्ययुगीन धारणाओं के आधार पर ही तर्क देते थे।[19] ऐसी परिस्थितियों में, आधुनिक शिक्षा पाये हुए मुसलमान इस मजलिस के निर्णयों की ओर शायद कम ही ध्यान दें; दूसरी ओर, मदरसे के पढ़े हुए लोग भी शायद इस कारण मजलिस की उपेक्षा करें कि उसकी 'जिद्दतों' (नयी खोजों) को दृष्टान्तों का समर्थन प्राप्त नहीं और कोई भी जिद्दत तब तक स्वीकार्य नहीं होती जब तक कि सामान्य व्यवहार उसे 'परम्परा' में न बदल दे। इसलिए कोई भी मुफ़्ती अपने को मजलिस के निर्णयों का पाबन्द नहीं समझेगा और निश्चित रूप से मध्ययुगीन फ़िक़्ह की पुस्तकों को ही अपना मार्गदर्शक

मानता रहेगा। इस प्रकार, मजलिस की ओर से बीमे के वैध ठहरा दिये जाने के
पूरे चार वर्ष बाद इस मजलिस के संस्थापक दारुल-उलूम नदवतुल-उलमा के ही
मुफ़्ती ने फतवा दिया कि बीमा मजहब की दृष्टि से वर्जित है।[20] चूंकि मजलिस
के फ़ैसले अभी तक परम्परा नही बन पाये हैं, इसलिए नदवा के मुफ़्ती का
मजलिस के फ़तवे की अवहेलना करना और मार्गदर्शन के लिए अतीत में और
दूर तक चले जाना पूर्णतः उसके अधिकार-क्षेत्र में था।

7

इस प्रकार का कोई संगठन या संस्था नही है जो हमें यह बता सके कि हर साल
भारत मे कितने फतवे जारी किये जाते हैं। कभी-कभी कुछ मदरसे या कुछ
उलमा अपने फतवे पुस्तक के रूप मे छपवा देते हैं;[21] कुछ उन्हें पत्रिकाओं मे
भी छपवाते हैं।[22] लेकिन अभी हाल ही में देवबन्द के दारुल-उलूम के प्रिंसिपल
(अमीर) ने घोषणा की थी कि उनका दारुल-इफ़्ता साल में छः हजार से
अधिक फ़तवे जारी करता रहा है।[23] चूंकि और भी बहुत-से मदरसे हैं जिनमें
दारुल-इफ़्ता हैं, और फिर अलग-अलग उलमाओं के पास भी फ़तवों की मांग
आती रहती है, इसलिए सारे देश मे फ़तवों की संख्या दसियों हजार तो अवश्य
होगी। चूंकि विशिष्ट रूप से जब तक प्रार्थना न की जाय तब तक कोई फ़तवा
जारी नही किया जाता, इसलिए हम बेखटके इस नतीजे पर पहुंच सकते है कि
हजारों मुसलमान ऐसी समस्याओं के बारे मे भी धार्मिक पथ-प्रदर्शन के लिए
उलमाओं का मुंह देखते हैं, जिन्हें आधुनिक शिक्षा पाये हुए लोग धर्म की परिधि
से बाहर समझते हैं।

फलस्वरूप मुसलमानों ने अपना धार्मिक रवैया ऐसा बना लिया है जिसकी
वजह से वे आधुनिक जीवन-पद्धति से अलग हटकर पीछे की ओर देखते हैं। इस
प्रसंग में मुस्लिम जन-साधारण पर उलमा के प्रभाव को कम करके नही आंकना
चाहिये, विशेष रूप से ऐसी परिस्थिति में जहाँ हमें यह स्वीकार करना पड़े :

लगभग हर एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्र में आधुनिकता के रंग में
रंगा हुआ छोटा वर्ग (जिसके लिए अंग्रेजी में 'elite' शब्द का प्रयोग करने
का फ़ैशन है) बहुत ही अल्पसंख्यक है जिसका आम समाज से कोई भी
सम्पर्क नही रहता; सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से और शायद राजनीतिक
दृष्टि से भी तो वे प्रभुत्वशाली होते है, पर विचारों के क्षेत्र मे उनका प्रभाव
हमेशा इतना अधिक नही होता।[24]

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि मदरसों और फतवों की प्रणाली के कारण मुस्लिम जनमत पर उलमा का काफी प्रभाव है; वे उसे जिधर चाहें मोड़ सकते हैं। बहुत-से आधुनिकतावादी और धर्म-निरपेक्षतावादी मुसलमान भी जब यह तर्क देते हैं कि जब तक उलमा को सामाजिक और धार्मिक परिवर्तनों की आवश्यकता और उपयोगिता का विश्वास न हो जाय तब तक मुस्लिम समाज नहीं बदलेगा, तो वे भी इस प्रभाव को मानते हैं, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे।

टिप्पणियाँ

1. पूरे मुस्लिम जगत में यही प्रचलन मालूम होता है : (देखिये 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ इस्लाम', इसी शब्द के अन्तर्गत)।
2. 'हिदाय.' का मूल अरबी पाठ अनेक बार छप चुका है। आंशिक अंग्रेजी अनुवाद के लिए देखिये चार्ल्स हैमिल्टन, 'हिदाया आर गाइड : ए कमेंट्री ऑन द मुसलमान लॉ', लन्दन, 1870
3. दारुल-उलूम नदवतुल उलमा, लखनऊ, के 'दारुल-इफ्ता' का जारी किया हुआ 'फतवा मुतालिक नसबन्दी' देखिये, उर्दू पाक्षिक 'तामीरे-हयात', लखनऊ के 25 नवम्बर, 1967 के अंक में और उर्दू साप्ताहिक 'निदा-ए-मिल्लत', लखनऊ के 1 दिसम्बर, 1967 के अंक में; और भी देखिये उसी 'दारुल-इफ्ता' का जारी किया हुआ परिवार-नियोजन के बारे में एक और फतवा, 'तामीरे-हयात', लखनऊ, 25 मई, 1969, पृ० 9-10
4. देखिये 'बुखारी', विवाह वाला अध्याय (किताबुन-निकाह)।
5. देखिये, उदाहरण के लिए, मौलाना मुहम्मद इसहाक सदीलवी नदवी का लेख फ़तवा मुताल्लिक़ नसबन्दी पर सवालात', 'तामीरे-हयात', लखनऊ 25 जनवरी, 1968, पृ० 5-6, 16; और भी देखिये मौलाना अतीकुर्रहमान सभली का लेख, 'अल-फुरक़ान', लखनऊ, मार्च 1968
6. 'कुरान', 11 : 6
7. देखिये, उदाहरण के लिए, मौलाना अतीकुर्रहमान सभली का लेख 'ख़ानदानी मसूबाबन्दी', 'अल-फुरक़ान', लखनऊ, वर्ष 36, अंक 1, अप्रैल 1968
8. देखिए, उदाहरण के लिए, मौलाना मुजीबुल्लाह नदवी का लेख 'नसबन्दी की शरई हैसियत', 'तामीरे-हयात', लखनऊ, 25 नवम्बर, 1967, पृ० 5
9. रवायत इस प्रकार है : 'जब मआज इब्न जबल' [पैगम्बरे-इस्लाम के एक साथी] यमन भेजे जा रहे थे तो रसूल-अल्लाह ने उनसे पूछा : "तुम्हारे सामने जो मुकदमे लाये जायेंगे ?" मआज ने जवाब दिया : "मैं उनका फैसला अहकामे-इलाही के मुताबिक करूँगा।" "और अगर तुम्हें [उस ख़ास मामले के बारे में] अहकामे-इलाही में कुछ न मिले तो ?" रसूल-अल्लाह ने पूछा। "तो मैं उसका फैसला सुन्नते-नबवी के मुताबिक उसका फैसला करूँगा।" रसूल-अल्लाह ने फिर पूछा : "अगर उसमें भी तुम्हें उस मामले के बारे में कुछ न मिले तो ?" मआज ने जवाब दिया : "तो फिर मैं अपनी अक्ल के

मुताबिक फैसला करूँगा ।" इस पर पैग़म्बरे-इस्लाम ने उनका सीना थपथपाकर कहा : "हम्द ओ-सना हो उस खुदा-ए-कुद्दूस को जिसने अपने नबी के पयाम-रसाँ को उस नेमत से नवाज़ा जो उसके नबी को पसन्द है ।" ' ('अल तिरमिज़ी और अबू-दाऊद'।)

10. दारुल-उलूम नदवतुल-उलमा के 'दारुल-इफ्ता' का जारी किया हुआ फ़तवा, पाक्षिक 'तामीरे-हयात' लखनऊ, 25 जुलाई, 1969, पृ० 15

11. देखिये, 'सेन्टर कालिंग', (परिवार-नियोजन विभाग), भारत सरकार, नई दिल्ली, वर्ष 2, अंक 9, सितम्बर 1967

12. दिल्ली के उर्दू साप्ताहिक 'जमीयत टाइम्स' में प्रकाशित, वर्ष 2, अंक 49, 20 दिसम्बर, 1968, पृ० 44-45

13. एम० मुजीब, 'द इण्डियन मुस्लिम्स', लन्दन, जार्ज एलेन एण्ड अनविन, 1967, पृ० 59

14 'तामीरे-हयात' में प्रकाशित, 10 दिसम्बर, 1969, पृ० 9 । दारुल-उलूम देवबन्द के जारी किये हुए ऐसे ही एक फ़तवे के लिए देखिये 'फ़तावा दारुल-उलूम देवबन्द', देवबन्द, खंड 7-8, पृ० 236

15. उदाहरण के लिए, दिल्ली का दैनिक 'अल-जमीयत', दिल्ली, जिसकी नीति पर जमीयते-उलमा-ए-हिन्द का नियन्त्रण है, विभिन्न राज्यों की लाटरियों के विज्ञापन छापता रहा है : (देखिये उसके 26 अक्तूबर, 1969 के अंक में पृ० 6 पर दिल्ली लाटरी का विज्ञापन; 30 अक्तूबर, 1969 के पृ० 6 पर उ० प्र० लाटरी का विज्ञापन) ।

16. देखिये इस मजलिस की प्रकाशित की हुई पुस्तिकाएँ 'बीमे' के बारे में (लखनऊ, लगभग 1967) और 'चांद दिखायी देने' के बारे में (लखनऊ, लगभग 1967) । जमीयते-उलमा-ए-हिन्द ने इसी प्रकार की एक परिषद् की स्थापना और की है जिसका नाम है 'इदारः अल-मबाहीस अल-फ़िक्हीय.'; (देखिये, साप्ताहिक 'अल-जमीयत', दिल्ली, 22 मई, 1970, पृ० 11-12) ।

17. 'तजवीज़े-मजलिस...मुताल्लिक़ इन्शोरेन्स', मजलिस के संयोजक मौलाना मुहम्मद इसहाक़ सन्दीलवी नदवी की ओर से प्रकाशित, लखनऊ, नदवतुल-उलमा (लगभग 1967) ।

18 भारतीय मुसलमानों के धार्मिक जीवन में यह एक सबसे कठिन समस्या है । धार्मिक कामों के लिए मुसलमानों का कलेण्डर चन्द्रमा पर आधारित है और जब तक महीने के 29वें दिन आँख से चांद दिखायी न दे तो महीना एक दिन और बढ़ जाता है । इससे एक समस्या उठ खड़ी होती है, विशेष रूप से यदि क्षितिज पर बादल घिरे हों और वह महीना रमज़ान का हो या रोज़ा तोड़ने (ईद) का सवाल हो । जब तक दो 'धर्मनिष्ठ' बालिग मुसलमान 29वीं को चांद 'अपनी आँख से देखने' की गवाही न दे दें तब तक शरीअ के अनुसार 30वीं को नये महीने की पहली तारीख नहीं मानी जायगी । अगर इस तरह की खबर रेडियो पर आये तो क्या किया जाय—एक ऐसा सचार-साधन जो 'धर्मनिष्ठ' मुसलमानों के नियन्त्रण से स्वतन्त्र है ! दूसरा सवाल दो देशों के बीच देशान्तरों की दूरी का है । इसलिए किस दूरी तक क्षितिज को एक ही समझा जाय ? इस सिलसिले में और भी कुछ समस्याएँ हैं पर उन सबको यहाँ गिनाने की ज़रूरत नहीं ।

19 देखिये नोट 17; इसके अलावा 'तजवीज़े-मजलिस...मुताल्लिक मसअल-ए-रुयाते-हिलाल' (इसके अलावा देखिये नोट 18) लखनऊ, नदवतुल-उलमा (लगभग 1967) ।

20. देखिये 'तामीरे-हयात', लखनऊ, 10 दिसम्बर, 1969

21. देखिये, उदाहरण के लिए, दारुल-उलूम देवबन्द के 'दारुल-इफ़्ता' की ग्रोर से प्रकाशित फतवों के सग्रह; ग्रनेक खंड, ये खंड थोड़े-थोड़े समय पर प्रकाशित होते रहते हैं।
22. उदाहरण के लिए, दारुल-उलूम नदवतुल-उलमा का 'दारुल-इफ़्ता' ग्रपने कुछ चुने हुए फ़तवे समय-समय पर नदवा के सरकारी पाक्षिक 'तामीरे-हयात' (लखनऊ) में प्रकाशित करवाता रहता है।
23. उर्दू ग्रर्ध-साप्ताहिक 'मदीना', बिजनौर, वर्ष 58, ग्रंक 79, 9 नवम्बर, 1969, पृ० 6
24. विल्फ्रेड कैंटवेल स्मिथ, 'मॉडर्नाइज़ेशन ग्रॉफ ए ट्रैडिशनल सोसाइटी', बम्बई, एशिया, 1965, पृ० 49

5

धार्मिक संवेदनशीलता और क़ानून

भारतीय मुसलमानों का आम तौर पर यह मत है कि शरीअः इस्लाम का अभिन्न अंग है। यह उन कारणों में से एक, और शायद सबसे बुनियादी, कारण है जिसकी वजह से वे सामाजिक परिवर्तन की पैरवी करने वाली धर्म-निरपेक्ष शक्तियों का साथ देने में आनाकानी करते प्रतीत होते हैं। वे जानते हैं कि "धर्म-निरपेक्षीकरण किसी भी समाज-विशेष के जीवन की रुचियों और आदतों में परम्परागत रूप से स्वीकृत मानदण्डों और संवेदनशीलताओं से दूर हटने की दिशा में एक कदम होता है—उस इतिहासगत जीवन-पद्धति से अलग हटना जिसके लिए धर्म का अनुशासन नितान्त आवश्यक होता है।"[1] इसलिए वे डरते हैं कि यदि उन्होंने धर्म-निरपेक्षीकरण की क्रिया के आगे हथियार डाल दिये तो उन्हें आगे चलकर अपने धार्मिक अतीत को भूल जाना होगा, शरीअः की प्रणाली को त्याग देना होगा और अपने इतिहास से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना होगा; उनके दृष्टिकोण से, धर्म-निरपेक्षता से, चाहे जो भी लाभ मिलने वाले हों उनके लिए यह बहुत भारी कीमत है।

जब कोई रूढ़िबद्ध समाज धर्म-निरपेक्षीकरण की प्रक्रिया से होकर गुज़रता है तो इस मार्ग पर उसकी प्रगति बहुत बड़ी हद तक इस बात से निर्धारित होती है कि उस समाज के लोगों को किस प्रकार की औपचारिक शिक्षा मिली है, और जिस परम्परागत विधि-प्रणाली (क़ानून) के अंतर्गत वे रह रहे हैं वह किस प्रकार का है। शिक्षा के प्रश्न पर तो हम विचार कर चुके हैं; आइये अब हम कानून के प्रश्न पर विचार करें।

भारतीय मुसलमानों का बहुमत यह मानता है कि शरीअः सम्पूर्ण और अपरिवर्तनीय 'क़ानून' है : सारे जीवन-क्षेत्र पर उसका नियंत्रण है और उसकी परिधि में वैयक्तिक कानून, सामाजिक कानून, दण्ड-सम्बन्धी कानून, वाणिज्य-सम्बन्धी कानून सभी कुछ आ जाता है; सारांश यह कि क़ानून का पूरा क्षेत्र उसके अन्दर आ जाता है। चूंकि भारतीय मुसलमान इस स्थिति में नहीं हैं कि

वे अपना पूरा जीवन शरीअः के अधीन कर दें, इसलिए उन्होने परोक्ष रूप से अपने निजी जीवन और उस जीवन के बीच मे एक अन्तर स्वीकार कर लिया है जो कि वे भारत के अन्य नागरिकों के साथ मिल-जुलकर बिताते है। इस सम्मिलित जीवन के क्षेत्र मे तो वे धर्म-निरपेक्षता की व्याप्ति को स्वीकार करने को तैयार है; पर वे समझते हैं कि उनका निजी जीवन उनका अपना जीवन है और उस पर उस धर्म के नियमों का नियत्रण होना चाहिए जिसका कि वे अनुसरण करते हैं।

2

यह छानवीन करना तो इतिहासकारों का काम है कि प्राचीन काल में क्या कभी भी ऐसा हुआ है कि भारत मे मुसलमानों के जीवन मे शरीअः पूरी तरह लागू की गयी हो; परन्तु ब्रिटिश शासनकाल मे तो शरीअः का केवल वह भाग लागू रहने दिया गया था जो आज भी मुस्लिम पर्सनल लॉ (वैयक्तिक कानून) के रूप मे मौजूद है, जिसका सम्बन्ध शादी, तलाक़ और कुछ हद तक उत्तराधिकार से है।

तर्क दिया जा सकता है कि मुसलमान शरीअः के बहुत बड़े भाग को अधिक महत्त्व नही देते थे क्योकि उनके किसी विरोध के बिना ही अंग्रेज़ों ने उसे रद्द कर दिया। पर हम यह बता देना आवश्यक समझते है कि ब्रिटिश नीतियाँ जनता की सहमति पर आधारित नही होती थी, बल्कि उस पर बलपूर्वक थोपी जाती थी। ब्रिटिश शासनकाल में भारतीय मुसलमानो की हैसियत नागरिकों की नही थी; वे औपनिवेशिक प्रजा थे और उनके पास न तो कोई संवैधानिक अधिकार थे और न अपने धार्मिक क़ानूनों की रक्षा करने के कोई अन्य साधन थे। फिर भी, उनके धर्म के मामलात मे इस प्रकार के हस्तक्षेप से उनके मन मे गहरा क्षोभ उत्पन्न होता था और वे विश्वास करने लगे थे कि उनका सबसे बड़ा शत्रु ब्रिटेन है जो भारत और उसके अपार साधनो पर अपना 'आततायी' आधिपत्य जमा लेने की बदौलत उनके धार्मिक जीवन के अधोपतन का मुख्य कारण है।[2] बहुत बड़ी हद तक, शरीअः के अनुसार अपना जीवन बिता सकने की लालसा मे ही भारतीय मुसलमानों ने—और विशेष रूप से उनके नेताओं, उलमा लोगों ने—स्वतन्त्रता संघर्ष में भाग लिया।[3] यह बात तो निःसकोच कही जा सकती है कि अगर मुसलमानों के मन में यह आशंका होती कि स्वतन्त्रता के बाद उन्हें अपनी धार्मिक आस्था के अनुसार जीवन बिताने की स्वाभाविक और न्यायोचित इच्छा को परवान चढ़ाने का अवसर नही मिलेगा

तो ब्रिटिश शासन से स्वतन्त्रता प्राप्त करने का उनका जोश ठण्डा पड़ गया होता।[4] चूंकि भारत को एक ऐसी राजनीतिक स्थिति में स्वतन्त्रता मिली जो उससे भिन्न थी जिसकी कि उलमा ने आशा की थी, इसलिए वे वह सब-कुछ नहीं माँग सकते थे जिसके लिए वे संघर्ष कर रहे थे। फिर भी, चूंकि संविधान में हर भारतीय के लिए धर्म की स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया गया था इसलिए मुसलमानों को इस बात का पूरा सन्तोष था कि अंग्रेज़ों के शासनकाल में शरीअः का जो हिस्सा उनके पास रहने दिया गया था कम-से-कम वह तो उनसे नहीं छीना जायगा।

जिस समय भारतीय संसद में हिन्दू कोड बिल पर विचार हो रहा था, संसद के कई सदस्यों ने माँग की कि मुस्लिम पर्सनल लॉ में भी संशोधन किया जाय।[5] परन्तु नेहरु-सरकार ने इस सुझाव पर विचार करना स्थगित कर दिया क्योंकि उस समय यह बात 'राजनीतिक दूरदर्शिता' की आम नीति से मेल नहीं खाती थी।[6] मुसलमानों ने इस 'स्थगन' को स्थायी निर्णय समझ लिया और इस बात को नहीं समझ पाये कि "वह दिन दूर नहीं है जब सबके लिए एक समान आचार-संहिता बनानी होगी, और अपने हिन्दू और ईसाई नागरिक भाइयों की तरह उन्हें भी अपने-आपको इन अनिवार्य परिवर्तनों के लिए तैयार करना चाहिए, जैसा कि दूसरे देशों में उनके अपने धर्म को मानने वाले भी कर चुके हैं।"[7] परन्तु अब जबकि मुस्लिम पर्सनल लॉ में परिवर्तन करने की माँग ज़ोर पकड़ गयी है तो वे बेचैन हो उठे हैं।

मुसलमानों का मत है कि उनका वैयक्तिक क़ानून उनके धर्म का ही अंग है। इसलिए जो राज्यसत्ता धर्म-निरपेक्ष होने का दावा करती है—अर्थात् यह कि वह अपने नागरिकों के धार्मिक मामलात में हस्तक्षेप नहीं करेगी—उसे उन लोगों की माँगों के सामने झुकना नहीं चाहिए जिनका मुस्लिम समाज के साथ या तो कोई सम्पर्क नहीं है या जिन्हें उनकी ओर से बोलने का कोई अधिकार नहीं है।

3

पर्सनल लॉ (वैयक्तिक कानून) के सवाल पर मुस्लिम समाज के नेता दो दलों में विभाजित हैं: रूढ़िवादी और धर्म-निरपेक्षतावादी। पहला दल पर्सनल लॉ को अपने धर्म का अभिन्न अंग मानता है और इसलिए यथास्थिति बनाये रखने के पक्ष में है।[8] उनका कहना है कि अगर 'बाहर के लोग' मुस्लिम पर्सनल लॉ में परिवर्तन करेंगे तो वह शरीअः को रद्द करने के बराबर होगा।[9] इसलिए, उनका

दावा है कि उसमें संशोधन करने या संसद मे कानून पास करके सभी नागरिकों के लिए एक समान व्यवहार-संहिता बनाने की कोशिश करना धर्म-निरपेक्षता के आदर्श (जिससे उनका अभिप्राय है धार्मिक स्वतन्त्रता) के विरुद्ध है। उनका कहना है कि "अगर संसद सभी नागरिको के लिए समान व्यवहार-सहिता पर विचार करती है जो मुसलमानों पर भी लागू हो और दूसरी बिरादरियों पर भी, और उसे ग़ैर-मुस्लिम वोटों की मदद से पास करा लेती है तो धर्म-निरपेक्षता का कोई अर्थ ही नही रह जायगा। सच तो यह है कि अल्पमत होने के कारण संसद में मुसलमानों के प्रतिनिधि किसी भी विधेयक को पास होने से रुकवा नही सकते।"[10]

प्रसगवश यह भी ध्यान देने की बात है कि 1955 मे हिन्दू कोड बिल के विरोधियो ने भी धार्मिक समझे जाने वाले मामलात मे बाहर के लोगों के भाग लेने के बारे में ऐसी ही धार्मिक संवेदनशीलता और विरोध का प्रदर्शन किया था। हालांकि संसद के ग़ैर-हिन्दू सदस्य मतो का संतुलन दूसरे पक्ष के हित मे बदल नहीं सकते थे, फिर भी बहुत-से हिन्दू इस बात से असन्तुष्ट थे कि बाहर के लोगों को भी एक शुद्धतः हिन्दू समस्या के बारे मे वोट देने की अनुमति क्यो दी गयी।[11] इसके अतिरिक्त, यह बात भी सभी जानते है कि जिस समय संसद मे हिन्दू कोड बिल पर विचार हो रहा था—और जिसे बाद मे संसद ने पास भी कर दिया—उस समय भारत सरकार को धर्म-परायण हिन्दुओ के कड़े विरोध का सामना करना पड़ा था। "कट्टरपंथी लोग इस विधेयक का विरोध इसलिए कर रहे थे कि वे इसे अपने धार्मिक अधिकारों का उल्लंघन समझते थे। उनका तर्क था कि जो राज्य-सत्ता धर्म-निरपेक्ष होने का दावा करती है वह उन रीति-रिवाजों मे हस्तक्षेप नही कर सकती जिन्हें धर्म का अनुमोदन प्राप्त है।"[12]

हाँ, तो मुस्लिम पर्सनल लॉ के प्रश्न के बारे मे हम देखते यह हैं कि धर्म-निरपेक्षतावादी, जिन्होने अपना आन्दोलन इस मांग से शुरू किया था कि मुस्लिम पर्सनल लॉ में 'सुधार' हो, अब सभी नागरिकों के लिए समान व्यवहार-संहिता चाहते हैं, जिसके बिना उनकी राय में 'धर्म-निरपेक्षता का कोई अर्थ ही नही है।'[13]

सुधार का या सभी नागरिकों के लिए समान व्यवहार-संहिता का विरोध करने के मामले मे रूढ़िवादियों में तो पूरी एकता है पर धर्म-निरपेक्षतावादी दो हिस्सों में बँटे हुए हैं : 'उदार' और 'उग्र'। उदार दल में आधुनिक शिक्षा-प्राप्त मुसलमान है जिनका कहना है कि जब तक मुस्लिम जनमत को पूरी तरह शिक्षित न कर दिया जाय और स्वयं इस समाज के अन्दर परिवर्तन की इच्छा न उत्पन्न हो तब तक सरकार का इस मामले में हस्तक्षेप करना उचित न होगा। जैसा कि इस्लामी कानून के प्रख्यात मुस्लिम विशेषज्ञ प्रो० आसफ़ ए० ए० फ़ैज़ी ने उग्र-दल वालो की ओर से आयोजित एक मीटिंग मे कहा था: "धर्म-निरपेक्ष

राज्य-सत्ता को सभी नागरिकों के लिए समान व्यवहार-संहिता का आदर्श जनता के सामने रखना अवश्य चाहिए। पर इस प्रकार के परिवर्तन के लिए स्वैच्छिक प्रयास आवश्यक है। जब तक मुस्लिम समाज स्वयं इसके बारे में कोई क़दम नहीं उठायेगा तब तक सरकार भी कोई क़दम नहीं उठायेगी।"[14]

कुछ उदारपंथी धर्म-निरपेक्षतावादी इस सम्भावना पर भी विचार कर रहे हैं कि रूढ़िवादियों के साथ विचार-विनिमय आरम्भ किया जाय ताकि वे निर्णय कर सकें कि कितना परिवर्तन हुआ है।[15] हो सकता है कि कुछ लोग इस सुझाव को यह मानकर ठुकरा दें कि उलमा लोग यथास्थिति में कोई परिवर्तन चाहते ही नहीं; इसलिए उनके साथ विचार-विनिमय में समय नष्ट करने से कोई लाभ नहीं। परन्तु यह धारणा निराधार है। इस शताब्दी के चौथे दशक में जब केन्द्रीय विधानसभा के एक सदस्य क़ाज़ी मुहम्मद अहमद क़ाज़िमी ने यह माँग विधानसभा मे पेश की थी कि विधानसभा मुस्लिम औरतों के लिए इस अधिकार की स्वीकृति दे कि वे दीवानी अदालतों मे अपने विवाह भंग करा सकें, तो उलमा ने इस विधेयक का समर्थन किया था।[16] यह विधेयक केन्द्रीय विधानसभा में 17 अप्रैल, 1936 को पेश हुआ था और थोड़े-बहुत परिवर्तनों के बाद 17 मार्च, 1939 को पास होकर कानून बन गया था; इस कानून का नाम था '1939 का *मुस्लिम विवाह-भंग अधिनियम, 8*।'[17] *और जैसा कि फ़ैज़ी साहब ने कहा है :* "उस समय से आज तक इसका स्वागत इधर हाल के वर्षों के एक सबसे प्रगतिशील क़ानून के रूप मे किया जाता रहा है।"[18]

इतने निकट अतीत के अनुभव को देखते हुए इस सम्भावना को बिलकुल ही ठुकरा देने की कोई आवश्यकता नहीं कि उलमा लोग सही दिशा में कदम बढ़ा सकते हैं।

4

उग्र दल के लोग जो तत्काल परिवर्तन के पक्षधर हैं आधुनिक शिक्षित वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें मुस्लिम और गैर-मुस्लिम दोनों ही हैं। पर इस दल के अग्रणी मुस्लिम प्रवक्ताओं का बौद्धिक स्तर उतना ऊँचा नहीं है जितना कि मुस्लिम उदार दल वालों का। वास्तव में जिस उग्रपंथी धर्म-निरपेक्षतावादी का सबसे अधिक प्रचार हुआ है—विशेष रूप से अंग्रेज़ी पत्र-पत्रिकाओं में—वह है हमीद दलवाई; वह 'स्व-शिक्षित' आदमी हैं और "एक उकसाने वाले प्रचारक के रूप मे जाने जाते हैं।"[19] उग्रपंथियों को धार्मिक विद्वानों (उलमा) और आम तौर पर पूरे समाज का न तो विश्वास प्राप्त है और न सम्मान ही। बहुधा

उनकी निन्दा इसलिए की जाती है कि वे हिन्दुओं के बीच 'उदार' और 'प्रगतिशील' मान लिये जाने के उद्देश्य से इस्लाम की अनुचित निन्दा करने की कोशिश करते हैं।[20]

चूंकि ये तीनों ही गुट—रूढ़िवादी, उदारपंथी और उग्रपंथी—अलग-अलग काम कर रहे हैं इसलिए ऐसा लगता है कि उनमें एक-दूसरे के प्रति वैमनस्य पैदा हो गया है। हालांकि उदारपंथी अन्य दोनों दलों की आलोचना करते समय बहुत यथार्थनिष्ठ और आवेशरहित होने का परिचय देते हैं, फिर भी वे दोनों की ओर से बहुत प्रबल प्रहारों का निशाना बन गये हैं। रूढ़िवादी उन्हें 'दूसरे पक्ष' के लोगों के रूप में देखते हैं जो कि मुसलमानों के हितों को ठेस पहुँचाने की कोशिश कर रहे हैं।[21] दूसरी ओर उग्रपंथी उन्हें 'प्रश्रय की राजनीति मे फँसा हुआ' पाते हैं और उन्हें 'ढोंगी आधुनिकतावादी' समझते हैं।[22] इस प्रकार एक ग़ैर-मुस्लिम उग्रपंथी धर्म-निरपेक्षतावादी ए० बी० शाह कहते हैं: "सच तो यह है कि इस समय भारतीय मुसलमानों के नेता या तो ऐसे कट्टरपंथी हैं जिनका कोई इलाज नहीं या फिर वे बुरी तरह प्रश्रय की राजनीति मे फँसे हुए हैं। अगर आप बाद वाली कोटि के लोगों से अकेले मे पूछें तो वे इस बात के पक्ष में होंगे कि इस्लाम की परम्पराओं की व्याख्या आधुनिक युग की आवश्यकताओं के अनुकूल उदार और सृजनात्मक ढग से की जाय। परन्तु जनता के सामने उनका रवैया बहुत सतर्क रहकर दोरुख़ी बातें कहने का रहता है, ताकि वे लोगों की नज़रों में प्रगतिशील भी बने रहें और साथ ही उन्हें मुसलमानों के बीच अपनी लोकप्रियता और दूसरों की नज़रों में अपनी साख खोकर इसकी क़ीमत भी न चुकानी पड़े।"[23]

इस प्रकार उग्रपंथी आधुनिकतावादियों को दो दलों मे बाँटते हैं: 'खरे आधुनिकतावादी' और 'ढोंगी आधुनिकतावादी'।[24] उनका कहना है कि "बहुत कम ही ऐसा होता है कि ये 'ढोंगी आधुनिकतावादी' मुस्लिम कानून मे सुधार करने की या सभी नागरिकों के लिए एक समान व्यवहार-संहिता की बातें करते हों। यदि वे इस समस्या के बारे मे कभी बोलते या लिखते भी हैं तो ऐसी गोल-मोल बातें करते हैं जिनका झुकाव कट्टरपंथी पक्ष की ओर होता है। उनकी कथनी और करनी मे अन्तर तो बहुत है पर इतना भी नहीं कि उन्हें पुराणपंथियों की कोटि मे रख दिया जाय। वे स्थूल रूप से धर्म-निरपेक्षता के पक्ष में तो बहुत-सी बातें कहते हैं पर ब्यौरे की बातों पर आकर वे लड़खड़ा जाते है और परम्परावादियों के प्रति न्यूनतम प्रतिरोध का रवैया अपनाना ही उचित समझते हैं।"[25]

खरे आधुनिकतावादियों की तुलना में ढोंगी आधुनिकतावादी 'भीरु' और 'दब्बू' होते है; उग्रपंथी लोग 'आत्म-निरीक्षण' और 'आलोचनात्मक निष्पक्षता'

के लिए खरे आधुनिकतावादियों की बड़ी सराहना करते हैं। उदाहरण के लिए, प्रो० मुहम्मद मुजीब, डॉ० सैयद आबिद हुसैन और प्रो० आसफ ए० ए० फ़ैज़ी उन लोगों मे से हैं जिन्हें ढोंगी आधुनिकतावादी कहा जाता है, जबकि प्रो० मुहम्मद हबीब, डॉ० मुहम्मद यासीन और डॉ० सैयद अतहर अब्बास रिजवी खरे आधुनिकतावादी कहलाते है।[26] लेकिन यथार्थनिष्ठ पर्यवेक्षक की दृष्टि में 'खरे' और 'ढोंगी' आधुनिकतावादी के बीच कोई अन्तर नही है; दोनों ही जनता के सामने 'बोलने' या 'गोलमोल बातें करने' मे एक जैसे हैं। केवल पाण्डित्य और विद्वत्ता से मुक्त उग्रपंथी ही ऐसे है जो दो-टूक और कठोर शब्दों में अपनी बात कहते हैं :

> हमें भारत मे मुस्लिम आधुनिकता का समर्थन करना होगा। हमें इस बात पर आग्रह करना होगा कि सभी नागरिकों के लिए एक समान *वैयक्तिक क़ानून हो।...सभी विवाहों की रजिस्ट्री एक समान नागरिक* व्यवहार-संहिता के अन्तर्गत हो।...अगर कोई दरगाह या मन्दिर किसी सडक पर आवाजाही में बाधक हो तो उसे हटा दिया जाय। सारी धार्मिक सम्पत्ति की आय पर सरकार का नियन्त्रण हो।...सभी भारतीय स्त्रियों का स्थान एक समान नागरिक व्यवहार-संहिता के अधीन हो। परिवार-नियोजन सभी के लिए अनिवार्य हो; उदाहरण के लिए, तीसरे बच्चे की पैदाइश के बाद गर्भ-निरोध के लिए पति-पत्नी में से किसी एक का ऑपरेशन अनिवार्य रूप से कर दिया जाय। जो मुसलमान इन सुधारों का विरोध करें उन्हें पूरे नागरिक अधिकारों के योग्य न समझा जाय।...जो मुसलमान धर्म के आधार पर सुधार का विरोध करें उन पर शरीअत का पूरा क़ानून सख्ती से लागू कर दिया जाय। उदाहरण के लिए, यदि वे चोरी करते पकड़े जायं तो उनके हाथ सरेआम क़लम कर दिये जायं। अगर वे झूठ बोलें तो उन्हें बाजार मे खड़ा करके कोड़े मारे जायं। अगर कोई औरत पर-पुरुष के साथ व्यभिचार के अपराध मे पकड़ी जाय तो उसे सरेआम पत्थर मार-मारकर मौत के घाट उतार दिया जाय।[27]

यह एक ऐसे उग्रपंथी की जोश-भरी लफ़्फ़ाज़ी का बहुत अच्छा उदाहरण है जिसे स्वयं उसके दोस्त 'क्रुद्ध युवा धर्म-निरपेक्षतावादी'[28] कहते हैं।

जब हम इससे कम 'क्रुद्ध' धर्म-निरपेक्षतावादियों पर दृष्टि डालते है तो हम उन्हें बहुधा रूढ़िवादियों के साथ उसूली बहस मे उलझा हुआ पाते हैं।[29] बार-बार अपना यह विवादग्रस्त दावा पेश करने के अतिरिक्त कि एक धर्म-निरपेक्ष राज्यसत्ता में सभी नागरिकों के लिए एक समान व्यवहार-संहिता होनी चाहिए,

उन्होंने अब तक अपना पक्ष तर्कसंगत ढंग से कभी पेश नहीं किया है। यह तर्क अवसर दिया जाता है कि मुस्लिम समाज शरीअः का बहुत कम पालन करता है; उदाहरण के लिए, कम ही लोग होंगे जो सक्रिय रूप से बहु-पत्नी प्रथा का पालन करते हों, फिर भी वे उसके उन्मूलन का विरोध करते हैं।[30] इसी प्रकार, यह भी कहा जाता है कि "हाल ही मे 1954 का जो विशेष विवाह अधिनियम बना है उसके अन्तर्गत किसी भी व्यक्ति के लिए यह सम्भव है कि वह मुसलमान रहते हुए भी मुस्लिम कानून में निर्धारित सामान्य सिद्धान्तो के प्रतिकूल वसीअत करके या बिना वसीअत किये उत्तराधिकार की आधुनिक पद्धति को अपना सकता है।"[31] इस प्रकार सर्वसाधारण को यह बताया जाता है कि मुसलमान एक ऐसे लक्ष्य के लिए लड़ रहे हैं जिसकी सफलता की कोई आशा नहीं। उदाहरण के लिए, ऐसे सिखों की संख्या बहुत ही थोड़ी होगी जो किरपान लगाकर चलते हों या 1949 में लगाते रहे हों जब संविधान बनाया गया था; फिर भी संविधान में लिखा है : "किरपान लगाकर चलना सिख धर्म के पालन का एक अंग माना जायगा।"[32] क्या संविधान की इस धारा को इस आधार पर रद्द कर दिया जाना चाहिए कि अधिकांश सिख किरपान लगाकर नहीं चलते ? कहा जाता है बहुत-से सिख केवल रस्म पूरी करने के लिए बहुत छोटी-सी—लगभग इंच-भर लम्बी—किरपान रखते हैं। सच है, फिर भी सवाल अपनी जगह पर है, क्योंकि जो सिख परम्परा के अनुसार किरपान लगाकर चलते हैं उनसे यह तो नहीं कहा जा सकता कि वे भी छोटी-सी किरपान रखा करें क्योंकि अधिकांश सिख ऐसा करते है।

किसी भी क़ानून के अनुमतिमूलक उपबन्ध को, जैसे बहु-विवाह को रद्द करने के समर्थन मे इस तर्क का सहारा लेना कि 'व्यवहार मे उसका पालन नहीं होता' हमें एक और कठिनाई में फँसा देता है; यदि व्यवहार में उसका पालन नहीं हो रहा है तो कानून बनाकर उसे रोकने की जल्दी क्या है; और अगर ऐसा नहीं हुआ है तो तर्क यों ही निराधार हो जाता है।

5

धर्म-निरपेक्षतावादियों और रूढ़िवादियो के बीच जो बहस चलती रहती है उस पर विचार करना बहुत रोचक है। जैसी कि कल्पना की जा सकती है, रूढ़िवादियों को अपने पक्ष के समर्थन मे विस्तारपूर्वक तर्क देने की बहुत ही कम जरूरत है; वे अपने इस दावे पर दृढ है कि उनका वैयक्तिक कानून उनके धर्म का एक अंग है और संविधान मे धार्मिक स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया

गया है।

धर्म-निरपेक्षतावादी अपने पक्ष के समर्थन के लिए इस तर्क का सहारा लेते हैं कि संविधान मे दिये गये इस आश्वासन के बावजूद कि "राज्यसत्ता केवल धर्म, नस्ल, जात-पांत, स्त्री-पुरुष, जन्मस्थान के आधार पर या इनमे से किसी भी बात के आधार पर किसी भी नागरिक के साथ भेदभाव नही बरतेगी",[33] भारत में मुस्लिम औरतों के साथ धर्म के नाम पर ऐसा सलूक किया जाता है जैसे वे मर्दों के अधीन हों।

अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए धर्म-निरपेक्षतावादी उन आधुनिक मुस्लिम देशो का उदाहरण देते है जहाँ मुस्लिम पर्सनल लॉ मे काफ़ी संशोधन और सुधार किये गये हैं। वे कहते हैं, "क्या यह अजीब बात नही है कि धर्म-निरपेक्ष भारत के मुसलमान अपने पाकिस्तान के भाइयों की तुलना मे अधिक दकियानूसी व्यवहार-संहिता के अधीन अपना जीवन व्यतीत करते हैं?"[34] यो देखने मे तो यह प्रश्न बडा तर्कसंगत लगता है, परन्तु इस बहस में दूसरे मुस्लिम देशों का प्रवेश कर देने से इस सामान्य तर्क का बल बहुत क्षीण हो जाता है। इसके उत्तर मे रूढिवादी कहते हैं कि किसी भी मुस्लिम देश मे मुस्लिम पर्सनल लॉ मे सुधार उलमा की या जन-साधारण की अनुमति से नही किये गये हैं। ये सुधार वहाँ के निरंकुश शासको ने बलपूर्वक उन पर थोपे हैं।[35] इसके अतिरिक्त, मुस्लिम देशों ने अपने यहाँ के गैर-मुस्लिम नागरिको के उन कानूनों को छुआ तक नही है जिन्हे उनके धर्म का अनुमोदन प्राप्त है। इस बात के बावजूद कि भारत मे हिन्दू पर्सनल लॉ मे सुधार किया गया है पर मुस्लिम देशो के हिन्दू नागरिको को अब तक अपने परम्परागत कानून का पालन करने की पूरी छूट है। कही भी *उनसे यह नही कहा गया है कि वे अपने परम्परागत कानून को छोडकर 'सुधरी हुई'* हिन्दू व्यवहार-सहिता जैसे प्रगतिशील वैयक्तिक कानूनों को अपना लें। यदि मुस्लिम देश अपने हिन्दू नागरिको के वैयक्तिक कानून को रद्द करने के लिए भारत की हिन्दू व्यवहार-सहिता का सहारा नही ले रहे है तो फिर भारत मुस्लिम पर्सनल लॉ मे हस्तक्षेप क्यों करता है?[36]

मुस्लिम पर्सनल लॉ मे सुधार को उचित ठहराने के लिए आधुनिक मुस्लिम देशो का उदाहरण देने से न केवल सारी समस्या विवादास्पद हो जाती है बल्कि इससे एक बहुत बुनियादी समस्या भी उठ खडी होती है। 'कमाल शाही' धर्म-निरपेक्ष तुर्की को छोड़कर, जिसने वास्तव मे शरीअः में सुधार नही किया वलिक सिरे से उसे खत्म ही कर दिया, शायद ही कोई मुस्लिम देश ऐसा होगा जिसने अब तक शरीअः के स्रोतों की सत्ता से इकार किया हो। वे सभी कुरान और सुन्नते-रसूल (*पैगम्बर मुहम्मद की परम्पराओ*) को मुस्लिम वैयक्तिक और पारिवारिक क़ानून के मुख्य स्रोत मानते है, लेकिन साथ ही यह दावा भी करते

हैं कि प्राचीन मुस्लिम कानूनविदों की भांति आधुनिक मुस्लिम समाज को भी अधिकार है कि वे इन क़ानूनों की पुनर्व्याख्या इस रूप में करें कि आधुनिक युग की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें।[37] इस प्रकार कानून के स्रोत के रूप में क़ुरान और सुन्नः (सुन्नत) की सर्वोपरि सत्ता के बारे मे कोई विवाद नही है।[38] आधुनिक मुस्लिम देशों में रूढ़िवादियों और धर्म-निरपेक्षतावादियों के बीच असली झगड़ा इस सवाल पर है कि कानून में सुधार करने का अधिकार राज्य-सत्ता को है या उलमा को।[39] उलमा का दावा है कि शरीअः की व्याख्या करने का एकमात्र अधिकार उनको है। इसके विपरीत धर्म-निरपेक्षतावादी कहते हैं कि शरीअः की व्याख्या करने का अधिकार केवल संसद को है, किसी व्यक्ति या *किसी वर्ग-विशेष को नही।[40] भारत मे परिस्थिति कुछ भिन्न है : वह एक धर्म-*निरपेक्ष राज्य है और इस बात को नही मान सकता कि क़ुरान और सुन्नते-रसूल को आम तौर पर क़ानून के स्रोतों के रूप में स्वीकार कर लिया जाय।[41]

मुस्लिम पर्सनल लॉ के मामले में एक और तर्कसगत प्रश्न यह है कि यह किसी भी दूसरे कानून की तरह ही है या इस्लामी धर्म के एक अभिन्न अग के रूप में *उसकी एक खास हैसियत है। यदि वैयक्तिक कानून को धर्म का अंग* मान लिया जाय, तो रूढ़िवादियों को धर्म-निरपेक्ष राज्यसत्ता के हस्तक्षेप का विरोध करने का पूरा अधिकार है क्योंकि धार्मिक मामलात मे उसकी कोई हैसियत नही है। ऐसा लगता है कि धर्म और धर्म-निरपेक्ष राज्यसत्ता के झगड़े में उन्होने इस कमजोरी को जान लिया है और इसीलिए उन्होने अपनी रणनीति *बदल दी है : सुधार पर ज़ोर देने के बजाय वे अब सभी नागरिकों के लिए एक* समान व्यवहार-संहिता की आवश्यकता पर इस तर्क के आधार पर ज़ोर देने लगे हैं कि वैयक्तिक कानून सहित सभी कानूनों का सम्बन्ध जीवन के धर्म-निरपेक्ष पक्ष से होता है धार्मिक पक्ष से नहीं।

6

ऐसा लगता है कि उग्रपंथी लोग मुसलमानों की धार्मिक संवेदनशीलता को कोई विशेष महत्व नही देते। उनका मत है कि वे लोग "जो फूंक-फूंककर क़दम रखने की सलाह देते हैं—संविधान बनने के बीस वर्ष बाद भी—वास्तव में शहरों के पूंजीपति वर्ग के बहुत सभ्य और शिष्ट लोग हैं और उन्हें इस बात का कोई प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कि प्रस्तावित सुझावों के प्रति कट्टरपंथी मुसलमान का विरोध कितना स्वार्थपूर्ण और सोचा-समझा कदम है। वह हठधर्मी इसलिए कर रहा है कि अनुभव ने उसे सिखा दिया है कि हठधर्मी करने से लाभ होता है। जब वह

देखेगा कि इससे काम नहीं चलता और सुधार के लिए उसकी अनुमति जरूरी नहीं रह गयी है, तो वह उसे स्वीकार कर लेगा, चाहे हँसकर स्वीकार करे या रोकर पर विरोध तो रत्ती-भर भी नहीं करेगा।"[12] शायद इसीलिए वे संसद से अनुरोध करते हैं कि वह सभी नागरिकों के लिए समान व्यवहार-संहिता लागू करने का काम शुरू कर दे। उन्हें पूरा विश्वास है कि 'अगर संसद के धर्म-निरपेक्ष सदस्य और सरकार निःसंकोच आगे बढ़ें और सभी नागरिकों के लिए एक समान व्यवहार-संहिता का कानून लागू कर दें तो मुसलमानों की ओर से कोई चमत्कारी विरोध नहीं होगा।"[13] लेकिन हमें डर है कि समस्या इतनी सीधी-सादी नहीं है। अगर हम अच्छी तरह इस समस्या की छानबीन करें और इस बात को ध्यान में रखें कि मुस्लिम समाज अब भी धर्म को बहुत—कुछ लोग इसे आवश्यकता से अधिक भी कह सकते हैं—महत्त्व देता है तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि चमत्कारी से अधिक भी 'कुछ' हो सकता है।

उग्रपंथी इस बात को भूल जाते हैं कि मुस्लिम मर्दों और औरतों के विशाल बहुमत की दृष्टि में शादी और तलाक़ केवल नागरिक समस्याएँ नहीं हैं। वास्तव में उनकी यह आस्था है कि इन दो मामलों में शरीअः के आदेशों से ज़रा भी इधर-उधर हटना नागरिक अपराध हो या न हो पर बहुत संगीन मज़हबी गुनाह ज़रूर है। हम इस बात से इंकार नहीं करते कि कुछ मुसलमान ऐसे भी हैं जिनके लिए शादी और तलाक शुद्धतः धर्म-निरपेक्ष और नागरिक समस्याएँ हैं। परन्तु इन लोगों का अलग ही एक वर्ग है और वास्तव में उन्हें मुस्लिम पर्सनल लॉ में किसी सुधार की आवश्यकता है भी नहीं। जिस वर्ग के बारे में कहा जाता है कि उसे सुधार की ज़रूरत है वह तो अनपढ़ या कम पढ़े-लिखे मुसलमानों का 'धार्मिक रूप से संवेदनशील' वर्ग है। और मुसलमानों का यह वर्ग मार्गदर्शन के लिए पूरी तरह उलमा पर भरोसा करता है। जब तक 'धर्म-निरपेक्ष आधुनिक' शिक्षा की मदद से इसकी आवश्यकता से अधिक धार्मिक संवेदनशीलता को कम नहीं किया जायगा तब तक इस वर्ग के आगे की दिशा में बढ़ने की सम्भावना कम ही है।

इतिहास का अनुभव भी यही बताता है कि जब तक उलमा लोग हरी झंडी नहीं दिखायेंगे तब तक मुसलमान अपने धार्मिक जीवन को धर्म-निरपेक्ष संस्थाओं के अधीन कर देने की दिशा में कोई भी कदम उठाने को तैयार नहीं होंगे। एक उदाहरण लीजिये। 1939 के मुस्लिम विवाह-भंग अधिनियम को, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, शुरू-शुरू में उलमा ने अपना आशीर्वाद दिया था। लेकिन जब वह पास हो गया तो उन्होंने उसका बहिष्कार इस आधार पर कर दिया कि सरकार ने उलमा की तरफ़ से लगायी गयी यह सबसे बड़ी शर्त पूरी नहीं की थी कि इस प्रकार के तमाम मुकदमों की सुनवाई किसी मुस्लिम

जज की अदालत में हो; अगर मुकदमे का फ़ैसला होने से पहले ही मुस्लिम जज का तबादला हो जाय और उसकी जगह कोई गैर-मुस्लिम जज आ जाय तो वह मुकदमा या तो उसी मुस्लिम जज के सामने पेश किया जाय या फिर पास ही की किसी ऐसी अदालत में जिसका जज मुसलमान हो।[44] मुस्लिम जज पर उलमा का आग्रह किसी सांप्रदायिक भावना के कारण नहीं था, न ही इसका उद्देश्य मुसलमानो को अधिक नौकरियाँ दिलाना था; यह तो शरीअः के उस नियम का पालन मात्र था जिसमें कहा गया है कि क़ाजी मुसलमान होना चाहिए।[45] लेकिन सरकार ने यह शर्त नहीं मानी और विधेयक पास हो गया और उसमे हर जज को, चाहे वह किसी भी धर्म का मानने वाला हो, 1939 के मुस्लिम विवाह-भंग अधिनियम के अन्तर्गत मुकदमो का फ़ैसला करने की अनुमति दे दी गयी। सरकार के इस निर्णय के बाद कोई 'चमत्कारी' बात नही हुई, इसके अलावा कि उलमा ने अपने धार्मिक-राजनीतिक संगठन के माध्यम से यह घोषणा कर दी :

> जमीयते-उलमा-ए-हिन्द इस बात को साफ कर देना चाहती है कि अगर कोई गैर-मुस्लिम जज किसी शादी को तोड़ देने का फैसला करेगा तो शरीअः की नजर मे वह शादी बहाल मानी जायगी। अगर कोई औरत किसी गैर-मुस्लिम जज की अदालत से तलाक का फैसला लेकर किसी और शख्स से शादी कर लेती है, तो इसे हरामकारी करार दिया जायगा। अदालत ने भले ही शादी तोड़ दी हो लेकिन वह अपने पहले शौहर की ही बीवी रहेगी।[46]

उलमा लोग अभी तक इस बात पर अड़े हुए हैं कि जज मुसलमान होना चाहिए।[47] (लेकिन उलमा की इस राय के बावजूद, हालात मुस्लिम औरतों को इस कानून के अनुसार अपनी शादियाँ तुड़वाने के लिए भारतीय अदालतों का दरवाजा खटखटाने से रोकने में पूरी तरह सफल नहीं हुए हैं।)[48]

हम यह तो नही कह सकते कि उलमा लोग इस बात से अनजान हैं कि अगर किसी तरह का अदालती अंकुश न हो तो किसी भी मुस्लिम औरत को उसका शौहर हर तरह से सता सकता है, लेकिन वे किसी क़ीमत पर शरीअः के नियमो का उल्लंघन करने को तैयार नही हैं। लेकिन इस समस्या को हल करने के लिए उन्होने बीच का एक रास्ता निकाला है; उनका मशविरा है कि मुद्दई, वह मर्द हो या औरत, अपना मामला शहर के बा-इज्ज़त मुस्लिम बुजुर्गों के सामने पेश करे—जिनमें अगर कम-से-कम एक आलिम भी हो तो अच्छा है—और उनसे प्रार्थना करे कि वे शरीअः के आधार पर उस मुकदमे का

फ़ैसला कर दें।[49] इसके लिए मुसलमानों ने अलग-अलग शहरों में 'अर्ध-धार्मिक अदालतें' क़ायम कर ली हैं। अदालतों जैसी ये संस्थाएँ मुद्दालेह (प्रतिवादी) के नाम सम्मन जारी करके उसे 'अदालत' के सामने तलब करती है और उससे शादी भंग न करने के लिए तर्कसंगत कारण बताने को कहती हैं। अगर सम्मन की तामील उस पर नही हो पाती तो अखबारों मे वही सम्मन छपवा दिया जाता है और मुद्दालेह को चेतावनी दे दी जाती है कि अगर वह हाजिर न हुआ तो मुक़दमे का एकतरफा फैसला कर दिया जायगा।[50]

ऐसी परिस्थितियों मे, हमारी तो समझ में नही आता कि सभी नागरिको के लिए समान व्यवहार-संहिता, जिसे उलमा का आशीर्वाद प्राप्त न हो, उन मुसलमानो के लिए क्या अन्तर पैदा कर सकती है जो विवाह और तलाक को धार्मिक मामला मानते हैं। लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ऐसी 'व्यवहार-संहिता' से एकतरफा तलाक की बुराई को रोकने मे सफलता मिलेगी, क्योंकि तब कोई भी तलाक अधिकारपूर्ण न्यायालय की मंजूरी के बिना सार्थक नही होगा। लेकिन यह भी आवश्यकता से अधिक आशा करना है। शरीअः के अनुसार, जिस क्षण कोई शौहर अपनी बीवी को बीवी मानने से इकार कर देता है उसी क्षण से वह उसके लिए अजनबी हो जाती है। जब तक एक निश्चित अवधि के अन्दर वह अपनी इच्छा से अपना फैसला वापस न ले ले तब तक किसी को भी उसका फैसला रद्द करने का अधिकार नही है। अदालत हद-से-हद यह कर सकती है कि उस पर गैर-कानूनी तौर पर अपनी बीवी को तलाक देने के अपराध में मुकदमा चलाये, लेकिन इससे तलाक़ रद्द नही हो सकता। एकतरफा तलाक अपनी जगह बहाल रहेगा। अगर बीवी 'धार्मिक विचारो की' है तो वह खुद भी ऐसे शौहर के साथ, जिसने शादी तोड़ दी हो, विवाह के सम्बन्ध रखने से इकार कर देगी क्योंकि उसके लिए ऐसा करना हरामकारी होगी। यह कोई मनगढ़ंत उदाहरण नही है। जिन आधुनिक मुस्लिम देशो में जनता को उचित शिक्षा दिये बिना मुस्लिम पर्सनल लॉ मे सुधार कर दिया गया है वहाँ आज यही हो रहा है। वहाँ के उलमा लोगो को यही सलाह देते है कि अदालत के रद्द कर देने के बाद भी एकतरफ़ा तलाक जायज माना जायगा।[51] अगर भारत मे भी 'धार्मिक रूप से संवेदनशील' लोगों को ठीक से शिक्षा दिये बिना उन पर बलपूर्वक धर्म-निरपेक्ष सुधार थोपने की कोशिश की गयी तो यहाँ भी यही होगा।

7

लेकिन उलमा लोगो को भी मौजूदा स्थिति से सन्तुष्ट होकर बैठे नही रहना

चाहिए। अगर वे चाहते हैं कि लोगों के विचारों पर धर्म का प्रभाव बना रहे तो उन्हें सुधारों की तात्कालिक आवश्यकता की उपेक्षा नही करनी चाहिए। उन्हें यह भी मालूम होना चाहिए कि शायद सुधारों का ढांचा भी बदल रहा हो, विशेष रूप से कुछ धर्म-निरपेक्षतावादी मुसलमानों की नयी रणनीति को देखते हुए। वे अब यह सुझाव रखने लगे हैं कि 'अंग्रेज़ों के बनाये हुए' 1937 के मुस्लिम पर्सनल लॉ[52] में कुछ नयी धाराएँ और जोड दी जायें। उनका कहना है कि मौजूदा मुस्लिम पर्सनल लॉ को भी पहली बार क़ानून की शक्ल अंग्रेज़ों ने ही दी थी, और 1939 में उन्होने ही उसकी कुछ धाराओं में संशोधन करके मुस्लिम औरतों को इस बात की सुविधाएँ प्रदान की थी कि वे मुस्लिम विवाह-भंग अधिनियम के अंतर्गत अपनी शादियाँ अदालत के हुक्म से भंग करवा सकें;[53] इसलिए, धर्म-निरपेक्षतावादियों की राय में, अगर अंग्रेज़ों के बनाये हुए मौजूदा-मुस्लिम पर्सनल लॉ पर संसद पुनर्विचार करे तो मुस्लिम समाज के धार्मिक अधिकारों का कोई उल्लंघन नही होगा। अगर इसे मान लिया गया, तो सरकार और रूढिवादियों की टक्कर में रूढ़िवादियों का पक्ष बहुत कमज़ोर हो जायेगा।

इस आशय के दो सुझाव अख़बारों में छप भी चुके हैं; एक तो श्री दानियाल लतीफी का, जो भारत के सुप्रीम कोर्ट के एक वरिष्ठ एडवोकेट और नई दिल्ली की मुस्लिम प्रोग्रेसिव ग्रुप नामक संस्था के जनरल सेक्रेटरी हैं[54] और दूसरा प्रो० आसफ ए० ए० फैज़ी का।[55]

फ़ैज़ी साहब मुस्लिम पर्सनल लॉ में होने वाले परिवर्तनों और क्रमिक विकासो का उल्लेख करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचते है :

> बहुत विचार करने पर ऐसा लगता है कि भारत के मुसलमानो के सामने तीन रास्ते खुले हुए हैं :
>
> (1) कि यथास्थिति बनी रहने दी जाये।
>
> मेरा निवेदन यह है कि यह मार्ग हमें अन्याय की ओर ले जाता है, और इसलिए मैं इसका विरोध करता हूँ।
>
> (2) कि वैयक्तिक कानून की एक पूरी व्यवहार-संहिता तैयार की जाये (जिसमें शादी, तलाक़ और उत्तराधिकार के विषय शामिल हो)।
>
> ऐसी संहिता तैयार करने में समय, पैसा और मेहनत लगेगी, और मैं इस मार्ग को अपनाने के विरुद्ध हूँ।
>
> (3) कि सभी नागरिकों के लिए एक समान व्यवहार-संहिता बना दी जाये।
>
> यद्यपि भारत के संविधान में इसकी सिफ़ारिश की गयी है, लेकिन पूरा मुस्लिम समाज इस मार्ग का विरोधी है। इससे देश में मुसलमानों के

विशाल बहुमत की भावनाओं को ठेस लगेगी और इसे उनके धर्म में अनावश्यक हस्तक्षेप समझा जायेगा। इससे सुधार की गति भी मन्द पड़ जायेगी क्योंकि तब मुसलमान छोटे-छोटे आंशिक उपायों का भी विरोध करने लगेंगे। इस समय तो केवल कुछ अनुमतिमूलक कानून बनाना और मौजूदा कानून में विशिष्ट संशोधन करना ही हमारा उद्देश्य होना चाहिए।[56]

फ़ैज़ी साहब के प्रस्तावित कानून की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं "कि कोई आदमी पर्याप्त और उचित कारण के बिना दूसरी शादी नहीं कर सकेगा जिसका फैसला समझौते की अदालत करेगी" और यह कि तलाक़ तब तक लागू नहीं होगा जब तक कोई अधिकार-प्राप्त अदालत उसका अनुमोदन न कर दे। फ़ैज़ी साहब ने वास्तव में मुस्लिम् पर्सनल लॉ में सुधार के पाकिस्तानी नमूने को अपनाया है।[57] उन्होंने 'विवाह-भंग का करारनामा' भी तैयार किया है, जिसे यदि दी गयी हिदायतों के अनुसार पूरा कर दिया जाये तो निश्चित रूप से कई ऐसे दुराचार दूर हो जायेंगे जिनका आम तौर पर एक मुस्लिम शौहर पर आरोप लगाया जाता है।

प्रो० फ़ैज़ी की तुलना में लतीफी साहब अधिक उग्रपंथी मालूम होते हैं; उन्होंने अपने सुझाव संसद-सदस्यों के विचारार्थ एक 'प्रारूप विधेयक' के रूप में प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने उसे 'मुस्लिम पर्सनल लॉ (शरीअत) पालन (संशोधन) विधेयक, 1969' का नाम दिया है। इस प्रारूप विधेयक में लतीफी साहब ने और बातों के अलावा ये सिफारिशें की हैं : बहु विवाह पर पूरी रोक, एकतरफा तलाक पर रोक, और परदे की प्रथा का उन्मूलन। उनका दावा है कि यदि उनके संशोधन स्वीकार कर लिए जायें "तो इस मामले में मुस्लिम कानून दूसरी भारतीय व्यवहार-संहिताओं के अनुकूल हो जायेगा।"[58]

जब हम उलमा पर दृष्टि डालते हैं तो हम उनके बीच ऐसे लोग पाते हैं जिनके लिए "केवल वही कानून धर्म का अंग है; और इसलिए अपरिवर्तनीय हैं, जिनका उल्लेख कुरान और सुन्नः में किया गया है। इस्लामी कानून के उन ब्यौरे के नियमों और गौण उपबंधों को यह स्थान नहीं प्राप्त है जो बाद की शताब्दियों में कुरान और सुन्नः के मूल पाठ में दिये गये कानूनों में इज्तिहाद* और निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया के फलस्वरूप विकसित हुए हैं। मुस्लिम पर्सनल लॉ के इस भाग में परिवर्तन किये जा सकते हैं। मूल पाठ में प्रतिपादित उपबन्धों से बाद में जो कानून निष्कर्ष रूप में निकाले गये हैं उनमें बदलती हुई परिस्थितियों के तकाजों के अनुसार संशोधन किया जा सकता है।"[59] फलस्वरूप

* जहाँ कुरान और हदीस का आदेश स्पष्ट न हो, वहाँ अपनी राय से उचित मार्ग निकालना।

जमाअते-इस्लामी-हिन्द ने मुस्लिम पर्सनल लॉ की उन बातों की एक सूची बनाने के लिए जिनमे परिवर्तन किया जा सकता है, उलमा और मुस्लिम वकीलों की एक समिति नियुक्त की है।[60] लेकिन अब तक कोई मसविदा प्रस्तुत नही किया गया है। ऐसा लगता है कि जो लोग इस समस्या से अवगत हैं भी वे इस समस्या के पूरे विस्तार और प्रभाव को नही समझते है। ऐसे समय पर जबकि धर्म-निरपेक्षतावादी एक समान व्यवहार-संहिता के लिए मार्ग प्रशस्त करने के उद्देश्य से अपने मसविदे पेश कर रहे हैं, रूढिवादी अभी तक फ़िक़्ह (इस्लामी क़ानून) की विभिन्न विचार-शैलियों के उलमा और मुस्लिम कानून के ज्ञाताओं को शरीअः की सीमाओं के भीतर एक प्रारूप तैयार करने के लिए निमंत्रित करने की बात सोच ही रहे हैं। जैसा कि एक 'आलिम' ने कहा है :

> इसलिए वक़्त का तक़ाज़ा है कि विभिन्न मुस्लिम सम्प्रदायों और संगठनों का प्रतिनिधित्व करने वाले उलमा और मुस्लिम कानून के जानकारों की एक कमेटी बनायी जाये। इस कमेटी को एक मसविदा तैयार करने का काम सौंपा जाये, जिसे जानकार लोगो के पास उनकी राय के लिए भेजा जाये, और अन्ततः उस पर उन्मुक्त और भरपूर बहस के बाद अन्तिम रूप से एक मसविदा तैयार किया जाये।
>
> इस्लामी दृष्टिकोण से यह मसविदा मुसलमानों के लिए एक कानूनी व्यवहार-संहिता का रूप धारण कर लेगा जिसका वे पालन करेंगे। फिर भी इस देश में हर समस्या का निपटारा जिस ढंग से होता है उसके लिए आवश्यक है कि इस प्रकार की हर व्यवहार-संहिता संसद की मंजूरी पाने के बाद ही अदालतों की ओर से लागू की जा सकती है, इसलिए उसे संसद के सामने तो पेश करना ही होगा। इसलिए कोशिश यह करनी होगी कि अन्तिम रूप से जो प्रारूप तैयार किया जाये वह बिना किसी संशोधन के पास हो जाये। परन्तु यदि कोई संशोधन आवश्यक ही समझा जाये तो उसे फिर मुस्लिम उलमा और कानून के जानकारों की उसी कमेटी के पास वापस भेज दिया जाये।[61]

लेकिन यह सुझाव भी इन सीमाओ में जकड़ा हुआ है :

> हम कुरान या सुन्नते-रसूल मे साफ़ तौर पर कही गयी बातों मे कोई परिवर्तन या संशोधन करने का कोई अधिकार नहीं रखते। मुस्लिम होने के नाते हमारे लिए उनके लिए अक़ीदत (आस्था) रखना और पूरी ईमानदारी के साथ उन पर अमल करना लाज़िम है। हम उन बातों को

भी नहीं बदल सकते जिनका फैसला उम्मः ('उम्मत' अर्थात् पूरी मुस्लिम बिरादरी या समाज) के इज्मा (सामूहिक मत) ने कर दिया है। हमें क़ुरान की आयतों और सुन्नते-रसूल की तशरीह (व्याख्या) करने की भी छूट नहीं है, चाहे वे हमारे पूर्वजों की सर्वसम्मत व्याख्या के प्रतिकूल ही क्यों न हों। इनमें निर्धारित सीमाओं के भीतर रहकर हमें हर ऐसे क़ानून को बदलने और उसमें संशोधन करने की छूट है जो तहत आते हैं [बिलकुल यही शब्द]।[62]

धर्म-निरपेक्षतावादियों की उपर्युक्त कार्यनीति के कारण ऐसा लगता है कि सभी नागरिकों के लिए एक समान व्यवहार-संहिता के बनने में यदि कोई विलम्ब होता है तो वह केवल राजनीतिक दूरदर्शिता के कारण होगा। स्पष्टतः, एक बार अगर सरकार ने इस समस्या को निपटाने का फ़ैसला कर लिया तो वह सम्भवतः धर्म-निरपेक्षतावादियों के सुझावों को ही स्वीकार कर लेगी, विशेष रूप से ऐसी स्थिति में जब कोई व्यावहारिक विकल्प न हो।

टिप्पणियाँ

1. बर्नार्ड ई० मीलैंड, 'द सेक्युलेराइज़ेशन ऑफ मॉडर्न कल्चर', न्यूयार्क, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1966, पृ० 3
2. मौलाना शाह मुईनुद्दीन अहमद अजमेरी, 1930 में दिल्ली में जमीयते-उलमा-ए-हिन्द के 9वें अधिवेशन का 'ख़ुत्ब-ए-सदारत' ('अध्यक्ष भाषण'), पृ० 25
3. देखिये, उदाहरण के लिए, मेरी पुस्तक 'मुस्लिम पॉलिटिक्स इन मॉडर्न इंडिया', मेरठ, मीनाक्षी, 1970, और ज़िया-उल-हसन फ़ारुक़ी, 'द देवबन्द स्कूल एण्ड द डिमाड फार पाकिस्तान', बम्बई, एशिया, 1963
4. मौलाना सैयद अबुल हसन अली नदवी, दीनी तालीमी बोर्ड के मुरादाबाद अधिवेशन में 14 जून, 1969 को अध्यक्ष-भाषण (उर्दू में)।
5. देखिये, उदाहरण के लिए, हिन्दू कोड बिल पर आचार्य जे० बी कृपलानी की आलोचना: "अगर हम एक लोकतांत्रिक राज्य चाहते हैं, तो मेरा कहना यह है कि हमें क़ानून केवल किसी एक सम्प्रदाय के लिए ही नहीं बनाने चाहिये।...क्या सरकार मुस्लिम सम्प्रदाय के लिए एक विवाह का क़ानून बनायेगी?" ('कांस्टीटुएंट असेम्बली डिबेट्स', खंड 7, पृ० 547)।
6. देखिये, डी० ई० स्मिथ, 'इंडिया ऐज़ ए सेक्यूलर स्टेट', ऑक्सफोर्ड, 1963, पृ० 290
7. उपर्युक्त, पृ० 291
8. देखिये, उदाहरण के लिए, 18, 19 अप्रैल, 1970 को जमीयते-उलमा की कार्यकारिणी समिति में स्वीकृत मुस्लिम पर्सनल लॉ पर प्रस्ताव, उर्दू साप्ताहिक 'अल-जमीयत', दिल्ली, खंड 40, अंक 117, 1 मई, 1970, पृ० 19; और भी, मौलाना अतीक़ुर्रहमान

संभली, 'मुस्लिम पर्सनल लॉ में इस्लाहात', उर्दू साप्ताहिक 'अजायम', लखनऊ, खंड 2, अंक 13, 19 जून, 1970, पृ० 8

9. देखिये, उदाहरण के लिए, मौलाना शाह मुईनुद्दीन अहमद नदवी, 'शज़रात' (संपादकीय), मासिक 'मआरिफ़' आजमगढ़, जुलाई 1970; और भी देखिये साप्ताहिक 'निदा-ए-मिल्लत', लखनऊ का संपादकीय, खंड 20, अंक 22 19 जुलाई, 1970

10. मौलाना असद मदनी (जमीयत वाले) एक अख़बारी इन्टरव्यू मे, साप्ताहिक 'सिद्क़े-जदीद', लखनऊ मे प्रकाशित, 19 जून, 1970, पृ० 3

11 उदाहरण के लिए, हिन्दू कोड के अखिल भारतीय कनवेंशन मे एक वक्ता डॉ० गोकुल चन्द नारंग ने इस विधेयक के विरुद्ध बोलते हुए कहा : "उन वोटो के सहारे जिनमे गैर-हिन्दुओं के वोट भी शामिल होंगे, ऐसा क़ानून बनाना जिसका प्रभाव केवल हिन्दुओ पर पड़ेगा, किसी भी प्रकार उचित और न्यायसगत नहीं है।" (डी० ई० स्मिथ, पूर्वोक्त, पृ० 287)। हिन्दू महासभा के एक नेता एन० सी० चटर्जी ने ससद में सदन के सभी पक्षों से अपील की थी : "हिन्दू विवाह सस्कार मे विघ्न डालकर उसमे तलाक़ की पद्धति का प्रवेश मत करो।" (लोकसभा डिबेट्स, 1955, भाग 2, खंड 4, संकलन 6855)।

12. वी० के० सिन्हा, 'सेक्यूलरिज्म एण्ड इडियन डेमोक्रेसी', 'सेक्यूलरिज्म इन इडिया', संपादक वी० के० सिन्हा, ललवानी, 1968, पृ० 33

13. एम० आर० बेग, 'इन डिफ़रेंट सैडिल्स', बम्बई, एशिया, 1967, 'सेक्यूलरिज्म' वाला अध्याय, पृ० 169

14 नई दिल्ली के अग्रेज़ी दैनिक 'द इडियन एक्सप्रेस' में उद्धृत। इसी प्रकार के विचार एक और उदारपंथी डॉ० यूसुफ़ हुसैन ने नई दिल्ली की इडियन इंस्टीच्यूट ऑफ़ इस्लामिक स्टडीज की ओर से आयोजित एक सभा में 'मुस्लिम पर्सनल लॉ' के विषय पर बोलते हुए इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये; लखनऊ के साप्ताहिक 'निदा-ए-मिल्लत' मे उद्धृत, वर्ष 20, अंक 22, 19 जुलाई, 1970, पृ० 5

15. देखिये, उदाहरण के लिए, जिया-उल-हसन फारुकी का लेख 'हिन्दुस्तानी मुसलमान और सेक्यूलर रियासत', मासिक 'जामिय.', नई दिल्ली, वर्ष 51, अक 2, फरवरी 1965, पृ० 72

16 मौलाना मुहम्मद मियाँ, 'जमीयते-उलमा क्या है?' दिल्ली, जमीयत पब्लिकेशन्स, 1946, खण्ड 1, पृ० 67; और भी देखिये मेरी पुस्तक मुस्लिम पॉलिटिक्स इन मॉडर्न इंडिया, मेरठ, मीनाक्षी, 1970, अध्याय 7, ('इडिया माई मदरलैंड') पृ० 130-131, नोट 60

17. देखिये परिशिष्ट 2

18. आसफ़ ए० फ़ैज़ी, 'आउटलाइन्स ऑफ़ मुहम्मद लॉ', ऑक्सफोर्ड, तीसरा सस्करण, 1964, पृ० 161

19 हमीद दलवाई की पुस्तक 'मुस्लिम पॉलिटिक्स इन इडिया' के पुस्तक-परिचय से, बम्बई, नचिकेता, पुनर्मुद्रण, 1969

20. देखिये, उदाहरण के लिए, दिल्ली के साप्ताहिक 'अल-जमीयत' के पाठको के स्तम्भ में हमीद दलवाई पर सैयद नासिर अली (अलीगढ़) की टिप्पणी, वर्ष 40, अक 160, 12 जून, 1970; और भी देखिये दिल्ली के दैनिक 'अल-जमीयत' का सम्पादकीय, 30 जून,

1970; और भी देखिये साप्ताहिक 'निदा-ए-मिल्लत', लखनऊ, वर्ष 21, अंक 14, 29 नवम्बर, 1970, पृ० 15

21. साप्ताहिक 'निदा-ए-मिल्लत' ने अपने सम्पादकीय 'या आसफा अला यूसुफ़' : ('ओ, यूसुफ के प्रति वेदना' : कुरान का वाक्यांश 12 . 84) वर्ष 20, अंक 22, 19 जुलाई, 1970 में डॉ० यूसुफ़ हुसैन को उनके भाषण (देखिये ऊपर नोट 14) के लिए बहुत लताड़ा था। इसी प्रकार एक दूसरे सम्पादकीय 'लकीर के फ़क़ीर' में फैज़ी साहब को उनके भाषण (नोट 14) के लिए लताड़ा गया था, 'निदा-ए-मिल्लत', वर्ष 21, अंक 2, 23 अगस्त, 1970

22. देखिये, उदाहरण के लिए, ग़ैर-मुस्लिम उग्रपंथी धर्म-निरपेक्षतावादी एम० ए० करंदीकर, 'इस्लाम इन इंडियाज ट्रांज़िशन टु मॉडर्निटी', बम्बई, ओरिएंट लागमैंस, 1968, अध्याय 13, 'द माडर्निस्ट मूवमेंट'।

23 एस० ई० हसनैन की पुस्तक 'इंडियन मुस्लिम : चेलेंज एण्ड अपार्चुनिटी' पर ए० बी० शाह की 'भूमिका', बम्बई, ललवानी, 1968, पृ० 12। ए० बी० शाह की पुस्तक चेलेंजेज टु सेक्यूलरिज्म' में शब्दशः उद्धृत (केवल अन्तिम शब्द 'अदर्स' को बदलकर 'नान-मुस्लिम्स' कर दिया गया है।

24 'नामधारी आधुनिकतावादी भाग में मौलाना आज़ाद के अनुयायी हैं, जो कांग्रेस के साथ अपने सम्बन्ध के कारण राष्ट्रवादी मुस्लिम भी कहलाते हैं।...' (एम० ए० करंदीकर, 'इस्लाम इन इंडियाज ट्रांज़िशन टु मॉडर्निटी, बम्बई, ओरिएंट लागमैंस, 1968, पृ० 371)।

25. उपर्युक्त।

26 प्रोफ़ेसर मुजीब को शायद इसलिए "नामधारी आधुनिकतावादी' समझा जाना चाहिए कि उन्होंने अपनी शानदार ['द इंडियन मुस्लिम'] कठमुल्लेपन की इस उपासना के साथ आरम्भ की है : 'लेखक का दृढ़ विश्वास है कि अपने धर्म इस्लाम, और इस्लाम के नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के सच्चे (जी हाँ) प्रतिनिधियों के रूप में भारतीय मुसलमानों के पास निर्णय करने के सबसे विश्वस्त मानदण्ड हैं, और यह जानने के लिए कि उनका स्तर कितना ऊँचा या नीचा है कहीं और देखने की आवश्यकता नहीं है [उपर्युक्त, पृ० 24]" (हमीद दलवाई की पुस्तक 'मुस्लिम पॉलिटिक्स इन इंडिया' पर ए० बी० शाह की 'भूमिका', बम्बई, नचिकेता, पुनर्मुद्रित, 1969, पृ० 20)।

[सैयद आबिद] "हुसैन ने [अपनी पुस्तक 'द डेस्टिनी ऑफ इंडियन मुस्लिम' में] 1888 से (जी हाँ) विभिन्न मुस्लिम नेताओं की ओर से पाकिस्तान की माँग और उसके प्रबल समर्थन की न केवल उपेक्षा की है बल्कि यह कल्पनातीत दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया है कि यह सिद्धान्त पहली बार 1937 में सावरकर ने प्रस्तुत किया था।" (एम० आर० करंदीकर, पूर्वोक्त, पृ० 371)।

फैज़ी "दिल से तो आधुनिकतावादी है पर वह इतने भीरु हैं कि कठमुल्लों की आलोचना के प्रहार का सामना नहीं कर सकते और सदा धर्म-परायण मुसलमानों की नज़रों में अच्छे बने रहने के लिए उत्सुक रहते हैं।"..."पिछले तीस वर्षों में फैज़ी ने अपने किसी भी लेख में दूसरे धर्मों पर हमला करने के लिए किसी मुसलमान की आलोचना नहीं की है।" (उपर्युक्त, पृ० 369 और 371)।

प्रो० हबीब में उग्रपंथियों "आत्मालोचना की क्षमता" पाते हैं (हमीद दलवाई,

पूर्वोक्त, पृ० 43)। डॉ० मुहम्मद यासीन और डॉ० अतहर अब्बास रिज़वी के बारे में यह समझा जाता है कि उन्होंने अपनी पुस्तकों में "आलोचनात्मक निष्पक्षता" का परिचय दिया है: (यासीन, 'सोशल हिस्ट्री ऑफ़ इस्लामिक इंडिया', लखनऊ, 1958, रिज़वी, 'मुस्लिम रिवाइवलिस्ट मूवमेंट्स इन नार्दर्न इंडिया इन सिक्सटीय एण्ड सेवेनटीय सेंचुरीज़', आगरा, 1965) देखिये दलवाई, पूर्वोक्त, पृ० 97

27. हमीद दलवाई, 'पूर्वोक्त' पृ० 98-99
28 हमीद दलवाई को यह नाम उनका इण्टरव्यू लेने वाले दिलीप चित्रे ने दिया है। यह इण्टरव्यू हमीद दलवाई की 'पूर्वोक्त' पुस्तक का अन्तिम अध्याय है, पृ० 101-108)।
29 उदाहरण के लिए ए० बी० शाह ने बहु-पत्नी प्रथा के सवाल पर रूढ़िवादियों पर जवाबी हमला इस प्रकार किया है: "इसका यह अर्थ नहीं है कि सबके लिए एक समान नागरिक संहिता बिना किसी शर्त के ईसाइयों के ढंग की एक विवाह की पद्धति थोप दे या विवाह की परिस्थितियों पर ध्यान दिये बिना तलाक को असम्भव बना दे। इस बात की कल्पना की जा सकती है कि दूसरी शादी की—तर्क की बात तो यह है कि कितनी भी शादियां की—अनुमति दी जा सकती है, यदि उस प्रकार की कोई असाधारण कठिनाई हो, जिनका उल्लेख आम तौर पर मुस्लिम बहु-विवाह प्रथा के समर्थक बहुधा किया करते हैं। बात केवल यह है कि फिर इसी प्रकार की आज़ादी औरत को भी दी जानी चाहिए, कि अगर आवश्यक हो तो वह एक से अधिक पति कर सके।" (ए० बी० शाह का लेख 'रिफार्म ऑफ मुस्लिम लॉ', 'द टाइम्स ऑफ इण्डिया', संडे मैगज़ीन, नई दिल्ली, 13 जुलाई, 1969)।
30. देखिये, उदाहरण के लिए, एस० टी० लोखण्डवाला का लेख 'मुस्लिम पर्सनल लॉ एण्ड द प्राब्लेम ऑफ यूनीफार्म सिविल कोड फ़ॉर इंडिया', 'क्वेस्ट', अंक 73, नवम्बर-दिसम्बर 1971, पृ० 67-74
31 आसफ़ ए० ए० फ़ैज़ी, 'ए मॉडर्न अप्रोच टु इस्लाम', बम्बई, एशिया, 1963, पृ० 82 (विशेष विवाह अधिनियम के उद्धरण के लिए परिशिष्ट 3 के अन्तर्गत देखिये)।
32 'भारत का संविधान', अनुच्छेद 25, व्याख्या 1। (कृपाण धारण करने की व्याख्या के लिए देखिये जे० पी० सिंह उबेराय का लेख 'द फाइव सिम्बल्स ऑफ सिखिज़म,' 'सिखिज़म', पटियाला, पंजाबी यूनिवर्सिटी, पृ० 123-138
33. 'भारत का संविधान', अनुच्छेद 15 (1)।
34 ए० बी० शाह के लेख 'रिफार्म ऑफ मुस्लिम लॉ' (पूर्वोक्त) का व्याख्यात्मक शीर्षक। पर मुस्लिम पर्सनल लॉ में सुधार को न्यायोचित ठहराने के लिए पाकिस्तान या दूसरे मुस्लिम देशों का सहारा लेने वालों में श्री शाह अकेले नहीं हैं। भारत में मौजूदा मुस्लिम पर्सनल लॉ का लगभग हर विरोधी इसी ढग से तर्क करता है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय भारतीय महिला संघ की अध्यक्षा कुमारी कपिला खाण्डवाला ने लखनऊ की एक सार्वजनिक सभा में भाषण देते हुए कहा: "पाकिस्तान ने अब अपने परिवार-सम्बन्धी नियम बदल दिये हैं और कई बीवियां करने और ज़बानी तलाक दे देने को गैर-कानूनी ठहरा दिया है। दूसरे आधुनिक मुस्लिम राज्य तो इससे भी आगे बढ़ गये हैं।" ('द स्टेट्समैन', नई दिल्ली, 23 अक्तूबर, 1967)।
35. उदाहरण के लिए इस प्रकार के तर्क का उत्तर देते हुए मौलाना सदरुद्दीन इस्लाही ने त्रैमासिक पत्रिका 'इस्लामिक थाट', (अलीगढ़, 13/1, जुलाई 1969, पृ० 8-9) में

प्रकाशित अपने लेख 'रियल नेचर ऑफ द मुस्लिम पर्सनल लॉ' (एम० एन० सिद्दीक़ी द्वारा उर्दू से अंग्रेज़ी में अनूदित) मे कहा है : 'यदि कुछ मुस्लिम देशो में मुस्लिम पर्सनल लॉ मे खुलकर परिवर्तन किये भी गये हैं तो इससे यह निष्कर्ष निकालना किसी भी विद्वान को शोभा नही देता कि ये नियम वास्तव मे परिवर्तनशील हैं। इसी प्रकार के तर्क के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक देश चीन का लोक गणतन्त्र चूंकि लोगों को जबर्दस्ती कुछ विचारों को स्वीकार करने पर मजबूर है, धर्म-विरोधी दण्डात्मक कार्रवाइयाँ करता है, लोगों से जबरी मेहनत कराता है और कम्यून पद्धति अपनाता है इसलिए ये सारी लोकतान्त्रिक जीवन-पद्धति के अनुकूल है और उन्हे अपनाया जाना चाहिए। इससे भी एक क़दम आगे जाकर हम कह सकते हैं कि यह रूढ़िवाद, प्रतिक्रियावाद और सकुचित विचारो की पराकाष्ठा है कि बदली हुई परिस्थितियों के बावजूद लोग लोकतन्त्र के उन लक्षणो को बनाये रखने पर आग्रह करते हैं जिनका विकास सबसे बहुत पहले फ्रांस, ब्रिटेन तथा अमरीका में हुआ था। इस प्रकार के निष्कर्ष पर सहज बुद्धि की प्रतिक्रिया क्या होगी ? क्या यह बात एक क्षण के लिए भी मानी जा सकती है कि लोकतन्त्र के नाम पर जो कुछ भी कहा या किया जा रहा है उसे आँख मूँदकर उस जीवन-पद्धति के एक आदेश का दर्जा दे दिया जाये जिसे हम लोकतन्त्र कहते हैं ? यदि यह बात तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरती तो हर उस बात को, जो इस्लाम का अनुयायी होने का दम भरने वाला कोई भी व्यक्ति कहता या करता है, इस्लाम की प्रामाणिक व्याख्या मानकर इस्लाम के साथ अन्याय क्यो किया जाये ? मुस्लिम पर्सनल लॉ मे उन लोगो द्वारा किये गये सशोधनो का हवाला देना जिन्होने इस्लाम में आदेशों को तिलाजलि देकर अपनी राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक प्रणालियाँ पश्चिमी देशो से उधार ली हैं, विद्वता की सच्ची परम्पराओं के प्रतिकूल है।'

36. उदाहरण के लिए, 'सिंगापुर की धार्मिक अदालत' पर टिप्पणी करते हुए उर्दू दैनिक 'अल-जमीयत' ने (दिल्ली, 4 जुलाई, 1968) अपने सम्पादकीय मे लिखा : 'किसी भी मुस्लिम देश में कोई धार्मिक अदालत या कानून बनाने वाली सस्था अपने ग़ैर-मुस्लिम नागरिकों के धार्मिक कानूनो में हस्तक्षेप नही कर रही है। अपने हिन्दू नागरिको के धार्मिक कानूनो को न पाकिस्तान ने छेडा है न सिंगापुर ने। इसलिए, यह एक तर्कसगत दलील है कि एक ऐसे देश में जहाँ मुसलमान अल्पमत सम्प्रदाय हैं, बहुमत सम्प्रदाय को मुसलमानो के पर्सनल लॉ को नही छेड़ना चाहिए। इसी प्रकार के विचारो के लिए (*मुस्लिम पर्सनल लॉ में सुधार के प्रश्न पर*) 'द स्टेट्समैन', दिल्ली के 24 दिसम्बर, 1970 के सम्पादकीय के उत्तर मे साप्ताहिक 'सिद्क़े-जदीद' (21/6, 8 जनवरी, 1971) भी देखिये।

37. उदाहरण के लिए, देखिये इंडियन इस्टीट्यूट ऑफ एडवास स्टडी, शिमला, के त्रैमासिक 'बुलेटिन' में मेरा लेख 'रिलीजन एण्ड लॉ इन पाकिस्तान' (3/1-2, जनवरी 1969, पृ० 23-29); उर्दू त्रैमासिक 'इस्लाम और अस्रे-जदीद', नई दिल्ली, मे मेरा ही लेख 'पाकिस्तान और क़ानूने-शरीअत' (1/1, अप्रैल 1969, पृ० 79-89) भी देखिये।

38 देखिये, उदाहरण के लिए, जे० एन० डी० एंडर्सन, 'इस्लामिक लॉ इन द मॉडर्न वर्ल्ड', लन्दन, 1959; अहमद इब्राहीम, 'इस्लामिक लॉ इन मलाया', सिंगापुर, मलयेशियन सोशियालाजिकल रिसर्च इस्टीच्यूट, 1965 भी देखिये।

39 देखिये, उदाहरण के लिए, लाहौर के त्रैमासिक इकबाल के अंग्रेज़ी खण्ड में मेरा लेख 'इदारा सफाकते-इस्लामिया' (12/3, जनवरी 1964, पृ० 1-13)।

40 आधुनिक मुस्लिम देशों के धर्म-निरपेक्षतावादी मुसलमानों के विचारों को जानने के लिए यह पढ़िये : 'यह भी एक भ्रान्त धारणा है कि इस्लाम ने राज्य के प्रशासन के मामले में मजहबी पीरों और मुल्लाओं को कोई विशेष स्थान दिया है क्योंकि इस्लाम बुनियादी तौर पर इस बात का विरोधी है कि मुस्लिम समाज में किसी भी प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग बनें, वे चाहे धार्मिक प्रकार के हों या धर्म-निरपेक्ष प्रकार के।... इस्लामी समाज में मुल्ला और पीर किसी भी दूसरे क्षेत्र के विशेषज्ञों की तरह होते हैं। उन्हें राज्यसत्ता के मामलात के सम्बन्ध में अपनी बात कहने का हक़ जरूर है, लेकिन वे यह दावा नहीं कर सकते कि आर्थिक, वित्तीय अथवा तकनीकी मामलात में उनका दृष्टिकोण आवश्यक रूप से अन्तिम तथा निर्णायक माना जाय। इसी प्रकार पीर और मुल्ला पूरे राष्ट्र पर इतना दृष्टिकोण थोप नहीं सकते। इस्लामी राज्यसत्ता के संचालन में हर प्रकार के विशेषज्ञों तथा जानकारों के विचारों पर ध्यान दिया जायगा, परन्तु अन्तिम निर्णय जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथ में होगा। अन्ततः उन्हीं को इस बात का निर्णय करना होगा कि जनता और राज्यसत्ता की भलाई किसमें है। यदि विचाराधीन समस्या के लिए किसी क्षेत्र विशेष की विशिष्ट जानकारी की आवश्यकता होगी तो उन्हें निश्चय ही विशेषज्ञों के मत पर ध्यान देना होगा। 'पर वे उनकी सलाह पर चलने के लिए बाध्य नहीं हैं।' (मुहम्मद मजहरुद्दीन सिद्दीक़ी, 'इस्लाम एण्ड थियोक्रेसी', लाहौर, 1953, पृ० 45 तथा उससे आगे। शब्दों पर बल हमारा)।

41. जैसे, उदाहरण के लिए, ए० बी० शाह ने अपने पूर्वोक्त लेख 'रिफार्म ऑफ मुस्लिम लॉ' में अपनी यह प्रस्थापना प्रस्तुत करते हुए कि भारत को एक 'समरूप पौर सहिता' अपनानी चाहिए 'जिसमें सभी वैयक्तिक कानूनों के अच्छे तत्व' सम्मिलित हों, कहते हैं : 'इस बात का निर्णय करने के लिए कि किसी प्रावधान विशेष को समरूप पौर सहिता का अंग बनाया जाय या न बनाया जाय, न तो किसी धर्म के धर्म ग्रन्थ को कसौटी बनाया जाना चाहिए न सत्ता की राजनीति की आवश्यकताओं को, बल्कि कसौटी इस बात को बनाया जाना चाहिए कि भारत में उदार, सुगठित तथा गतिवान समाज के उद्भव को बढ़ावा देने के लिए किन बातों की आवश्यकता है।'

42. उपर्युक्त।

43. उपर्युक्त।

44 मौलाना मुहम्मद मियाँ, 'जमीयत-ए-उलमा क्या है?' दिल्ली, जमीयत पब्लिकेशस, 1946, खण्ड 2, पृ० 197।

45 इस कर्मचारी के संक्षिप्त विवरण के लिए देखिये, ए० ए० फैज़ी, 'आउटलाइंस ऑफ़ मुहम्मडन लॉ', लन्दन, ऑक्सफोर्ड, तीसरा संस्करण, 1964, पृ० 319-320; 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ इस्लाम' में 'क़ाज़ी' शब्द के अन्तर्गत भी देखिये; भारत में मुस्लिम शासन-काल में न्याय के प्रशासन के विवरण के लिए देखिये एम० बी० अहमद, 'एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ जस्टिस इन मेडीवल इंडिया', अलीगढ़, 1941

46. मौलाना मुहम्मद मियाँ, पूर्वोक्त, पृ० 242

47. इस प्रकार के एक मुकदमे का उल्लेख मुहम्मद अजमल खाँ द्वारा सम्पादित मौलाना अबुल[कलाम] आज़ाद की 'मलफ़ूज़ात (दीनी)' में (दिल्ली, 1959, पृ० 122) मिलता

है। मुफ्ती सैयद अब्दुर्रहीम की 'फ़तावा रहीमिया' भी देखिये (खण्ड 2, पृ० 143, सूरत, 1968), "चेंजेज इन मुस्लिम पर्सनल लॉ" (प्राच्यविदों के 26वें अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के अवसर पर 9 जनवरी, 1964 को नई दिल्ली में आयोजित विचार-गोष्ठी की कार्यवाही) भी देखिये (नई दिल्ली, 1964, पृ० 93), जिसमें 'एक वक्ता ने कहा कि मुस्लिम क़ानून केवल मुस्लिम न्यायाधीशों को ही लागू करना चाहिए।' इसके उत्तर में अधिवेशन के अध्यक्ष श्री एम० सी० छागला ने, जो उस समय भारत के शिक्षा-मन्त्री थे, कहा था : 'बड़े अदब के साथ मैं कहना चाहता हूँ कि मैं इससे सहमत नहीं हूँ।'

48. मेरे पास उन तमाम मुकदमों का ब्यौरा जमा करके उसे तालिकाबद्ध करने के साधन नहीं हैं, जो मुस्लिम औरतों ने अपने विवाह रद्द कराने के लिए किसी गैर-मुस्लिम जज की अदालत में दायर किये हों। फिर भी पूरे उप-महाद्वीप की विभिन्न अदालतों में काफी संख्या में ऐसे महत्त्वपूर्ण मुकदमों का फैसला किया गया है जिनमें 1939 के अधिनियम के विभिन्न प्रावधानों के बारे में अलग-अलग व्याख्याएँ तथा निर्णय दिये गये हैं। तैयबजी के 'मुस्लिम लॉ' के नवीनतम संस्करण में इस प्रकार के मुकदमे मिल जायगे। केरल हाई कोर्ट में हाल ही में एक मुकदमे का फैसला किया जो इसलिए बहुत महत्त्वपूर्ण है कि उसमें इस्लाम के प्राचीन प्रामाणिक कानूनविदों की अनेक व्याख्याओं का खण्डन किया गया है। देखिये यूसुफ बनाम सौरम्मा, ऑल इंडिया रिपोर्टर, 1971, केरल, 261। इस मुकदमे के सम्बन्ध में देखिये 'इस्लाम एण्ड द मॉडर्न एज' में दानियाल लतीफी का लेख "आउटस्टैंडिंग डिसीज़न ऑन मुस्लिम पर्सनल लॉ" (नई दिल्ली, मई 1972, पृ० 16-25)।

49 दारुल-उलूम नदवतुल-उलमा, लखनऊ, के दारुल-इफ्ता की ओर से जारी किये गये एक फतवे के अनुसार, जो लखनऊ के उर्दू पाक्षिक 'तामीरे-ह्यात' में प्रकाशित हुआ था (25 अगस्त, 1969, पृ० 15); उसी पत्रिका का 25 मार्च, 1969 का अक भी देखिये, पृ० 15

50. इस प्रकार की नोटिसें दिल्ली के उर्दू दैनिक 'अल-जमीयत' में प्रकाशित हुई हैं, उदाहरण के लिए उसके 19 सितम्बर, 1969 के अक में देखिये देवबन्द की एक 'अर्ध-धार्मिक अदालत' का जारी किया हुआ सम्मन, मुज़फ्फरनगर से जारी किये गये ऐसे ही एक सम्मन के लिए देखिये उसका 27 सितम्बर, 1969 का अक।

51. देखिये, उदाहरण के लिए, अक्तूबर 1966 में क़ाहिरा में अपने वार्षिक सम्मेलन में मजमा अल-बुहूस अल-इस्लामिया द्वारा एकतरफा तलाक के बारे में स्वीकृत प्रस्ताव। (इसके उर्दू रूपान्तर के लिए देखिये मासिक 'बुरहान', दिल्ली, जनवरी, 1967; और भी देखिये साप्ताहिक 'जमीयत टाइम्स', दिल्ली, 2/49, दिसम्बर 1968, पृ० 20)।

52. देखिये परिशिष्ट 1

53. देखिये परिशिष्ट 2

54. *'जर्नल ऑफ़ कान्स्टीच्यूशनल एण्ड पार्लमिंटरी अफ़ेयर्स' में दानियाल लतीफी का लेख* 'मुस्लिम पर्सनल लॉ रिफ़ार्म' (4/1, जनवरी-मार्च, 1970, पृ० 111-118)।

55. आसफ़ ए० ए० फ़ैजी, 'द रिफ़ार्म ऑफ़ मुस्लिम पर्सनल लॉ इन इंडिया', बम्बई, नचिकेता 1971; (पहले इसी शीर्षक से एक लेख के रूप में 'ह्यूमनिस्ट रिव्यू' में प्रकाशित, बम्बई, 8/अक्तूबर-दिसम्बर 1970, पृ० 369-403)।

56 फ़ैज़ी, 'द रिफ़ार्म ऑफ़ मुस्लिम पर्सनल लॉ इन इंडिया', बम्बई, नचिकेता, 1971, पृ० 36

57. देखिये, 'द मुस्लिम फ़ेमिली लाज ऑर्डिनेंस', 8, 1961, पाकिस्तान सरकार प्रकाशन।
58. सतीफ़ो, पूर्वोक्त, पृ० 118
59. त्रैमासिक 'इस्लामिक थाट' में मौलाना सदरुद्दीन इस्लाही का लेख 'रियल नेचर ऑफ मुस्लिम पर्सनल लॉ' (उर्दू से एम० एन० सिद्दीकी द्वारा अनूदित) अलीगढ, 13/1, जुलाई 1969, पृ० 10-11
60 देखिये, उर्दू दैनिक 'दावत', दिल्ली, 19 मार्च, 1971
61. मौलाना सैयद हामिद अली, सदर, इदारा-ए-शहादते-हक़, दिल्ली के लेख 'चेंजेज इन मुस्लिम पर्सनल लॉ : स्कोप एण्ड प्रोसीजर' से उद्धृत, जो उन्होंने 1968 मे अलीगढ के मुस्लिम रिसर्च सर्किल के तत्वावधान मे मुस्लिम पर्सनल लॉ पर आयोजित विचार-गोष्ठी मे पढा था, उर्दू से इक़बाल ए० असारी द्वारा अनूदित, अलीगढ के त्रैमासिक 'इस्लामिक थाट' में प्रकाशित (14/2, अक्तूबर 1970, पृ० 15)। (लगभग बिलकुल ऐसा ही रवैया जमाअते-इस्लामी हिन्द ने भी अपनाया है : देखिये, जमाअते-इस्लामी हिन्द : एक तआर्रुफ़', दूसरा मुद्रण, 1967, पृ० 84-85)।
62. मौलाना सैयद हामिद अली, पूर्वोक्त, पृ० 13

6

भ्रामक धर्म-निरपेक्षता

पिछले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि भारतीय मुसलमानों को धर्म-निरपेक्ष बनाने की दिशा में लगभग कोई भी सच्चा प्रयास नहीं किया गया है। जो लोग यह काम कर सकते थे उनके बारे में ठीक ही कहा है कि वे "निराशा और अकेलेपन की भावना का शिकार हैं। वे स्वयं को अपने ही समाज से कटा हुआ अनुभव करते हैं क्योंकि उनके और शेष समाज के बीच शिक्षा, संस्कृति, रहन-सहन के स्तर और प्रयास के लक्ष्यों के मामले में स्पष्टतः इतनी गहरी खाई है कि उसे पाटना असम्भव है।"[1] और जो लोग समाज को आन्दोलित कर सकते हैं उनका मत यह है कि धर्म और धर्म-निरपेक्षता दो तलवारें हैं जो एक ही म्यान में नहीं रह सकतीं। हालांकि मुसलमानों को बार-बार समझाया जाता है कि धर्म-निरपेक्षता धर्म का निषेध नहीं है फिर भी उन्हें इस बात पर विश्वास नहीं होता। "इसका सबूत यह है कि उर्दू में हम 'सेक्यूलर' शब्द का अनुवाद 'ला-दीनी' या 'ग़ैर-मजहबी' या 'ना-मजहबी' कर सकते हैं—ये सभी ऐसे शब्द हैं जिनका अभिप्राय धर्म का विरोध या धर्म के प्रति उदासीनता होता है।"[2] अगर हम चाहें तो इसे इस्लाम के अतिरिक्त दूसरी विचारधाराओं के प्रति मुसलमानों की 'हठधर्मी' भी समझ सकते हैं जिसकी जड़ें मध्ययुगीन शिक्षा पाये हुए उलमा पर उनके पूरे भरोसे में बहुत गहराई से जमी हुई हैं; लेकिन एक और बात भी है जिसकी ओर बहुधा ध्यान नहीं दिया जाता और जिसकी वजह से धर्म-निरपेक्षीकरण के प्रति उनके इस अड़ियल रवैये को बल मिलता है, और वह है धर्म के प्रति धर्म-निरपेक्षतावादियों की विरोध की भावना।

जैसा कि हम देख चुके हैं, धर्म के मामले में मुसलमान बहुत संवेदनशील होता है। इस संवेदनशीलता की उपेक्षा करके, वाचाल धर्म-निरपेक्षतावादी इस्लाम की और धर्म की ही आलोचना करने में बहुधा कठोर शब्दों का प्रयोग करते हैं:

चूंकि हिन्दू धर्म से भिन्न इस्लाम एक ऐसा धर्म है जो 'वही' और 'इल्हाम' के रूप में नाजिल हुआ है, जिसका यह भी दावा है कि मुहम्मद साहब आखिरी पैग़म्बर थे, इसलिए जहाँ तक मनुष्य के सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन के विकास का सम्बन्ध है इस बात से क़ुरान पर अन्तिम शब्द होने की मुहर लग जाती है।

यह सरासर बेतुकी है, यह शब्द मोमिनों को चाहे जितना बुरा लगे। चूंकि मुस्लिम मत के नेता इस बात को दूरदर्शिता के कारण कह नहीं सकते, इसलिए किसी और को यह बताना होगा कि किसी भी धर्म का धर्मग्रन्थ चाहे वह खुदा के यहाँ से 'नाजिल' हुआ हो या उसे ऋषियों ने 'सुना' हो, किसी भी क्षेत्र में अन्तिम शब्द होने का दावा नही कर सकता।[3]

इस बयान को और ऐसे ही दूसरे बयानों[4] को देखते हुए यह कहना मुश्किल है कि 'मुस्लिम मत का कोई भी नेता' किस हद तक अपने समाज को इस बात का विश्वास दिला सकता है कि भारतीय "धर्म-निरपेक्षता किसी भी प्रकार धर्म-विरोधी नहीं है।"[5]

इस तरह की 'दो-टूक बातों' से केवल 'कट्टरपंथी' और 'धर्मोन्मुख' मुसलमान ही धर्म-निरपेक्षता से दूर नही हटते बल्कि बहुत-से और लोग भी धर्म-निरपेक्षता-वादियों की ईमानदारी पर शक करने लगते हैं। जैसा कि एक अवकाश-प्राप्त मुस्लिम प्रोफ़ेसर ने एक बार मुझसे कहा : "मुझे कट्टर धर्म-परायण हिन्दुओं से कोई डर नही लगता; वे जानते हैं कि किसी से अगर उसका विशिष्ट धार्मिक रूप छीन लिया जाय तो उसे कैसा लगेगा। हमे असली खतरा तो उन तथाकथित धर्म-निरपेक्ष हिन्दुओं से है जो धर्म का पालन नही करते। एक बार सत्ता हाथ में आ जाने पर वे भारत से इस्लाम का सफ़ाया कर देंगे।" मैंने उनसे कहा, "यह तो ठीक है, लेकिन वे तो सभी धर्मों के साथ, अपने धर्म के साथ भी, ऐसा ही करेंगे।" "जी नही," प्रोफ़ेसर साहब ने कहा, "वे ऐसा नही करेंगे। वे भारतीय परम्परा और सभ्यता के नाम पर हमारे ऊपर हिन्दू धर्म थोपेंगे। वे हिन्दू धर्म की उन फ़ालतू चीज़ों को रद्द कर देंगे जिनमे वे स्वयं विश्वास नही रखते और हमसे कहेगे कि तुम भी शरीअः के साथ ऐसा ही करो। फिर हमारे पास बचेगा क्या ? कुछ भी नही : न धर्म, न इतिहास, न अपनी कोई पहचान।" शायद यह प्रोफ़ेसर साहब बहुत-से भारतीय मुसलमानों की भावनाओं को व्यक्त कर रहे थे। वे 'भारतीय राष्ट्र के साथ मिलकर एकाकार हो जाने में एक ऐसा खतरा देखते हैं जो सभी दूसरे खतरों से बड़ा है। उनका तर्क है कि यदि वे भारतीय राष्ट्र को, जिसका विशाल बहुमत गैर-मुस्लिमो का है, अपने प्रेम और वफ़ादारी का केन्द्र बना लें तो अपने धर्म के साथ उनके बन्धन धीरे-धीरे कमज़ोर

पड़ते जायेंगे, यहाँ तक कि एक दिन उनकी रूह भी उनसे छिन जायगी, जिसे वे दुनिया में हर चीज़ से बढ़कर चाहते हैं।"[6]

अक्सर ऐसा समझा जाता है कि मुसलमानों का केवल वह हिस्सा जो उलमा के नेतृत्व में है, अपने गौरवशाली अतीत की याद में आहें भरता है और उसे वापस ले आना चाहता है। सच तो यह है कि दूसरे लोग भी यही करते हैं, अन्तर बस इतना है कि वे इस्लाम के बजाय 'इण्डो-मुस्लिम' संस्कृति का शब्द प्रयोग करते हैं। उनकी शिकायत यह है कि मध्य-युग में भारतीयों ने जो भूमिका निभायी है उसकी या तो बिलकुल उपेक्षा करने या कम-से-कम उसके महत्त्व को घटाने की बाकायदा कोशिश की जा रही है। उनका कहना है कि पुरातत्व विभाग भी पहली शताब्दी ईसवी के बाद के दौर के बारे में बहुत कम काम करता है। ऐसा लगता है कि उन्हें भारतीय सभ्यता की प्राचीनता के प्रमाण ढूँढने की अधिक उत्सुकता है, उसके बाद के युगों के सामाजिक जीवन और संस्थाओं के विकास की उतनी नहीं।[7] इस प्रकार यूनिवर्सिटी के पढ़े हुए एक धर्म-निरपेक्ष मुस्लिम सज्जन, जो यों तो भारतीय मुसलमानों के पूरे सामाजिक-धार्मिक ढाँचे पर फिर से विचार करने और उसे बदलने को तैयार हैं, पर मुसलमानों के बारे में की जाने वाली इस शिकायत पर कि उन्हें भारतीय जीवन की 'मूल धारा' का एक अंग बन जाने में कोई दिलचस्पी नहीं है, टीका-टिप्पणी करते हुए कहते हैं :

> इस सिलसिले में सबसे दिलचस्प बात और सबसे बड़ी बदनसीबी यह है कि राजनीति के क्षेत्र के हमारे दिग्गजों में से या हमारे बुद्धिजीवियों में से किसी ने भी इस बात की परिभाषा देने की कोई कोशिश नहीं की है कि आखिर यह मूल धारा है क्या। शायद बिना कहे ही यह समझ लिया गया है बहुमत सम्प्रदाय की प्रथाएँ और परम्पराएँ, महत्त्वाकांक्षाएँ, आस्थाएँ और आचार-व्यवहार, रुचियाँ और अरुचियाँ ही वह मूल धारा है—सारी-की-सारी, जिनका अनुकरण ज्यों-का-त्यों करना होगा। ईद के बजाय होली मनाना मूल धारा है; नमस्ते मूल धारा है, गाय की पूजा करना मूल धारा है; हिन्दी मूल धारा है; और पाकिस्तान का सबसे बड़ा शत्रु होना तो मूल धारा है ही।[8]

2

आधुनिकता की बात करते हुए विल्फ्रेड कैंटवेल स्मिथ कहते हैं : "आधुनिकता अब

कोई लक्ष्य न रहकर एक प्रक्रिया बन गयी है; अब वह एक ऐसी चीज बन गयी है जिसे हमें अपनाना नहीं है बल्कि जिसमें हमें भाग लेना है। आधुनिकता ऐसी कोई चीज नहीं है जो हमारे पास हो, वह एक ऐसी चीज है जिसे हम करते हैं, अच्छी तरह करें या बुरी तरह करें।"[9] इस बात को बहुत कम समझा जाता है, पर यह बात धर्म-निरपेक्षता के बारे में भी सच है। धर्म-निरपेक्षीकरण की प्रक्रिया में भाग न लेने के लिए अक्सर मुसलमानों की आलोचना की जाती है, बिना यह सोचे-समझे कि किसी प्रक्रिया में भाग लेना दो-तरफा बात होती है। सन्देह और शका से बोझिल वातावरण मे यह काम अच्छी तरह हो ही नही सकता। कुछ अलग-अलग व्यक्तियों को छोड़कर मुसलमानों और गैर-मुस्लिमो के बीच अब लगभग कोई भी विचारों का आदान-प्रदान नहीं होता। हो सकता है कि राजनीतिक कारणों से हम इस दूरी को उभारकर सामने रखना न चाहें लेकिन एक बाहरी पर्यवेक्षक इसके बारे में कहता है :

> पिछले बीस-तीस वर्षों से एक गैर-पश्चिमी—अर्थात् इस्लामी—सभ्यता का अध्ययन करने के बाद अब मुझे विश्वास हो गया है कि पश्चिमी देशों के साथ उसके सम्बन्ध के प्रसंग मे और हिन्दू संस्कृति के साथ उसके सम्बन्ध के प्रसंग में भी, परस्पर भिन्न सम्प्रदायो की अन्ततोगत्वा समता और उनकी निकटवर्ती विषमता दोनो ही उससे कही अधिक गहरी हैं जितनी कि ऊपर से देखने मे लगती हैं—अपनी क्रिया मे कही अधिक विस्तृत और व्यावहारिक दृष्टि से कही अधिक महत्त्वपूर्ण।[10]

दोनों सम्प्रदायों के बीच पारस्परिक सन्देहों और शंकाओं के बादल इतने गहरे हो चुके है कि :

> यदि कोई हिन्दू इतिहासकार मध्ययुगीन भारतीय इतिहास के बारे में लिखता है तो उसे पूर्वाग्रहो में फँसा हुआ अवश्य समझा जायगा चाहे वह विभिन्न संस्थाओं और नीतियों के बारे में अपनी आलोचना को मुसलमानों के लिखे हुए स्रोत-ग्रन्थों पर ही आधारित क्यों न करे। अगर कोई मुस्लिम इतिहासकार वही आलोचना करे तो उसे तथ्यों का यथार्थ वर्णन माना जायगा। इसी प्रकार यदि कोई मुस्लिम इतिहासकार विभिन्न संस्थाओ, नीतियों और प्रवृत्तियों की विवेचना करते समय उस दृष्टिकोण की अवहेलना करे जिसे भारतीय इतिहास के बारे में हिन्दू दृष्टिकोण कहा जाता है, तो उसे भी पूर्वाग्रहों का शिकार समझा जायगा, भले ही उसके निष्कर्ष अखण्डनीय प्रमाणो पर आधारित हों और जिन भावनाओं

की उसने उपेक्षा की है वे केवल कोरी भावनाएँ ही हों।...

इस समय तो ऐसा लगता है कि केवल इतिहास ही नही बल्कि हमारे राष्ट्रीय जीवन और राष्ट्र-कल्याण से सम्बन्धित किसी भी समस्या के बारे मे किसी के लिए भी दूसरो के बारे मे एक भारतीय नागरिक की हैसियत से बोलना या लिखना लगभग असम्भव-सा हो गया है। विचार और भाषण की स्वतन्त्रता को उसके वास्तविक अर्थ में मान्यता नही दी गयी है।[11]

आज परिस्थिति ऐसी है कि उन मुसलमानों के लिए भी, जो इन शब्दों की किसी भी परिभाषा के अनुसार 'धर्म-निरपेक्ष' और 'आधुनिक' हैं, दिल्ली जैसे मिले-जुले शहर में किसी हिन्दू मकान-मालिक का घर किराये पर ले सकना कठिन हो गया है। उनसे इंकार इसलिए कर दिया जाता है कि वे 'मुसलमान' हैं। "जो मकान-मालिक कहने को तो मुसलमानों को किराये पर अपना मकान देने से इंकार नही करते, इस बहाने की आड़ लेकर इंकार कर देते हैं कि वे प्याज और गोश्त खाते हैं।"[12]

हमें गम्भीरता के साथ विचार करना होगा कि इन सन्देहों और शंकाओ को कैसे दूर किया जा सकता है; हमारी इस छानबीन में तो वस्तु-स्थिति का सही-सही सर्वेक्षण ही करने का प्रयत्न किया गया है। ऐसा लगता है कि स्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी है कि लगभग हर मुसलमान को परिस्थितियों से विवश होकर उस बिरादरी की हाँ मे हाँ मिलानी पडती है जिसका कि वह संयोगवश एक सदस्य है। इससे एक ओर तो उन लोगों को बल मिलता है जो अपने लिए खुली 'साम्प्रदायिक' पहचान की बात करते हैं और दूसरी ओर यह अन्तर धुँधला पड़ता जाता है कि कौन धर्म-निरपेक्ष है कौन नही।

यह शायद इस प्रवृत्ति का परिणाम है कि हम अपने अतीत की ओर देखने लगे है, और "विभिन्न पक्षो का अलग-अलग अपना-अपना गौरवशाली अतीत है।"[13] हमारी पाठ्य-पुस्तको के नायक सरासर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से चुने जाते हैं।[14] 'इससे दूसरे पक्ष मे यह अस्वस्थ प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है कि उसे इतिहास मे उसका उचित स्थान नही मिल रहा और इसलिए उसे स्वय अपना अतीत निर्माण करना होगा।"[15] इस प्रकार अल्पसंख्यक पक्ष न केवल अपने अतीत से प्रेरणा लेने का प्रयत्न करता है बल्कि इस बात का आश्वासन भी कर लेना चाहता है कि बहुमत दल उसके अतीत को कही मिटा ही न दे। इस मामले मे जो धर्म-निरपेक्षतावादी हैं और जो नही हैं उनमें लगभग कोई अन्तर नही है: किसी स्थिति-विशेष के प्रति दोनों ही की प्रतिक्रिया एक जैसी होती है। उदाहरण के लिए एक समकालीन भारतीय आचरण के प्रति एक धर्म-निरपेक्ष

मुस्लिम की टिप्पणी पर विचार कीजिये :

> ...यदि इस दोहरे मानदण्ड का कोई और प्रमाण आवश्यक है तो वह (हिन्दू महासभा के) डॉ० सावरकर की मृत्यु पर उन्हें अर्पित की गयी श्रद्धांजलियों मे मिलता है। मृतात्मा के बारे मे प्रशंसात्मक बातें अवश्य कही जानी चाहिए, और वह नि.सन्देह सराहनीय व्यक्ति थे जिन्होंने कई सराहनीय काम किये थे। परन्तु यह बुनियादी बात अपनी जगह पर है कि उनकी विचारधारा सर्वथा धर्म-निरपेक्षता का निषेध थी। परन्तु ऐसा लगता है कि इस बात के कारण उन लोगो मे से किसी को भी कोई चिन्ता नही हुई जिन्होंने उनको एक ऐसे आदर्श और एक ऐसी प्रेरणा के रूप मे उछाला जिसका हर भारतीय को अनुकरण करना चाहिए। मुसलमानों को क्षमा किया जाय यदि वे पूछें : किन भारतीयो को ?[16]

3

हम जानते हैं कि भारत के लोगों के मन में सास्कृतिक संवेदनशीलता कितनी सशक्त है; संकट के क्षण मे सारे झगड़े धार्मिक रूप धारण कर लेते हैं। ऐसे लोग भी जिन्हें उनके सहधर्मी धर्म के प्रति शंकापूर्ण या उदासीन रवैया रखने के लिए बड़ी कटु आलोचना का लक्ष्य बनाते है, कुछ परिस्थितियों मे उन्हें भी उन लोगों से अलग पहचान सकना कठिन हो जाता है जो अधिक स्पष्ट रूप से अपनी बिरादरी का अभिन्न अंग होते हैं। उदाहरण के लिए प्रो० आसफ़ ए० ए० फ़ैज़ी को ले लीजिये, जिनकी मुसलमानों के बीच इस्लाम के प्रति उनके 'अति-आधुनिक दृष्टिकोण' के कारण बहुधा आलोचना की जाती है।[17] 'भारत में इस्लाम' के विषय पर एक ग़ैर-मुस्लिम धर्म-निरपेक्षतावादी श्री ए० बी० शाह द्वारा आयोजित एक विचार-गोष्ठी में बोलते हुए फ़ैज़ी साहब ने कहा :

> केवल एक मुसलमान ही इस्लाम की, स्वयं अपने धर्म की आलोचना कर सकता है; वही दूसरे मुसलमानो को यह बता सकता है कि ये बेहतर मुसलमान कैसे बन सकते हैं और इस्लाम में कैसे सुधार कर सकते हैं। यह नियम सभी धर्मों के लिए सार्थक है।[18]

फ़ैज़ी साहब धर्मों के यथार्थ और आलोचनात्मक अध्ययन के विरुद्ध नहीं हैं; भारत के ग़ैर-मुस्लिमों के इस्लाम के बारे में बोलने पर उनकी आपत्ति

उनके इस अनुभव पर आधारित है कि :

> दो अलग-अलग धर्मों के लोगों के बीच जब भी बहस होती है तो उसका अन्त बहुधा एक-दूसरे पर कीचड़ उछालने और गलतफहमी में ही होता है। बहुत ही थोड़े लोग ऐसे होते हैं जो स्वयं अपने धर्म का अध्ययन करते हों; ऐसे लोग तो जो किसी दूसरे धर्म को समझते हों और भी कम हैं और जो हैं भी वे केवल उसमें दोष ही निकालते हैं। केवल जब मैसाइ-नान या गोल्डजिहर या ब्रुंसविग जैसा कोई विद्वान् इस क्षेत्र में उतरता है तब आलोचना का स्तर ऊँचा उठकर ऐसे क्षेत्र में पहुँच जाता है जहाँ इस्लाम के शुद्ध सिद्धान्तों पर विचार-विनिमय हो सकता है और उसे वैयक्तिक या सामूहिक मानव गतिविधियों से अलग करके देखा जा सकता है। अधिकांश दूसरे उदाहरणों में बहस या तो विभिन्न उद्देश्यों की खिचड़ी बनकर रह जाती है या फिर तर्कों को लेकर या शब्दों के अर्थ को लेकर विचारों का उलझाव बन जाती है।[19]

स्वाभाविक रूप से यह बात ए० बी० शाह को, जिन्होंने वाद-विवाद का सूत्र-पात किया था, बहुत बुरी लगी; भारत में विभिन्न धर्मों के बीच वाद-विवाद आरम्भ करने के बारे में फ़ैज़ी साहब के संकोच के जो कारण थे उनकी ओर ध्यान न देते हुए उन्होंने पूछा : "लेकिन वह यह माँग क्यों करते हैं कि शोध के स्तर के अलावा गैर-मुस्लिम लोग इस्लाम के बारे में कोई विचार-विनिमय न करें ? कोई भी आस्था या संस्था यह दावा नहीं कर सकती कि उसे किसी भी ऐसे व्यक्ति के, जिसे उसमें रुचि हो, आलोचनात्मक मूल्यांकन से मुक्त रखा जाय। न ही यह जरूरी है कि विभिन्न धर्मों के अनुयायियों के बीच होने वाले हर विचार-विनिमय का अन्त गलतफहमी में ही हो। और यह तो बिलकुल ही जरूरी नहीं है कि उसका स्तर इतना नीचा गिर जाय कि एक-दूसरे पर कीचड़ उछाली जाय, जब तक कि अपनी ही बात को एकमात्र सत्य मानने का आग्रह न हो, जैसा कि किसी भी धर्म के अन्ध-भक्तों में बहुधा होता है।"[20]

इस बात से तो इंकार नहीं किया जा सकता कि श्री शाह को इस्लाम का 'आलोचनात्मक मूल्यांकन' करने का अधिकार है—और फ़ैज़ी साहब सहर्ष श्री शाह और दूसरे लोगों को यह अधिकार देने को तैयार हो जायेंगे—फिर भी फ़ैज़ी साहब का यह कहना ठीक है कि भारत के गैर-मुस्लिम विद्वानों को क़ुरान, हदीस और फ़िक़ह के क्षेत्र में, जो कि इस्लामियात के ज्ञान का मूल आधार हैं, अपनी जानकारी की प्रामाणिकता अभी सिद्ध करनी होगी।

हमें यह भी याद रखना चाहिए कि भारतीय जन-साधारण अभी तक इतने

सुशिक्षित नहीं हैं कि वे धर्म के 'आलोचनात्मक' अध्ययन का विचार सहन कर सकें। जब तक किसी के बारे में यह न मालूम हो कि उसने किसी धर्म का अध्ययन अच्छी तरह परम्परागत ढंग से किया है, तब तक उसके आलोचनात्मक निष्कर्षों के पीछे हमेशा कोई-न-कोई निहित उद्देश्य देखने की कोशिश की जाती है। हम जानते हैं कि जब श्री ए० बी० शाह ने, जो एक जैन-हिन्दू घर में पैदा हुए, यह साबित करने की कोशिश की थी कि वैदिक काल में गो-वध और गो-मांस खाने—दोनों ही की अनुमति थी, तो दूसरे हिन्दुओं ने उनकी किस तरह आलोचना की थी।[21] हिन्दुओं की प्रतिक्रिया इस टिप्पणी में व्यक्त होती है : "श्री शाह यह स्वीकार कर चुके हैं कि वह धर्म-परायण जैन नहीं हैं, फिर उन्हें हिन्दुओं के धार्मिक मामलात में टाँग अड़ाने की कोई जरूरत नहीं है।"[22] इन परिस्थितियों में हम भली-भाँति कल्पना कर सकते हैं कि यदि भारत में इस समय दूसरों के धर्मों का 'आलोचनात्मक मूल्यांकन' आरम्भ कर दिया जाय तो क्या परिणाम होगा।

4

धर्म-निरपेक्षता अभी तक साम्प्रदायिक कमजोरियों पर काबू पाने में सफल नहीं हुई है; धर्म से सम्बन्धित कोई भी समस्या राजनीतिक अर्थ में 'साम्प्रदायिक समस्या' बन जाती है। एक अखबार में प्रकाशित श्री ए० बी० शाह के लेख 'गो-वध और लोकतन्त्र'[23] को ही ले लीजिये। इस लेख में लेखक ने समस्या को हिन्दू-मुस्लिम दृष्टिकोण से देखने की कोशिश नहीं की थी। उनके मुख्य प्रहार का उद्देश्य अपनी माँगों को मनवाने के लिए 'अ-लोकतान्त्रिक' उपायों का सहारा लेने की बढ़ती हुई भारतीय प्रवृत्ति की आलोचना करना था, जैसे सार्वजनिक आत्मदाह या आमरण अनशन की धमकी। लेकिन इस लेख के छपने के बाद संपादक के नाम जो पत्र आये उनमें इस महत्वपूर्ण समस्या से कतराकर उस लेख का विश्लेषण हिन्दू-मुस्लिम दृष्टिकोण से करने का प्रयत्न किया गया। ऐसा लगता है कि पत्र लिखने वालों ने यह मान लिया था कि श्री शाह मुसलमान हैं और वह गो-वध के 'अपने अधिकार' के पक्ष में तर्क दे रहे हैं। मुसलमानों को इस बहस में अकारण ही घसीटा गया और श्री ए० बी० शक्ति ने (अमरीका से) तो यहाँ तक घोषणा कर दी कि "श्री शाह और उनके मत का समर्थन करने वाले ध्यान रखें कि गाय की रक्षा और सेवा करना हिन्दुओं का तो धार्मिक कर्तव्य है लेकिन गो-वध करना या गो-मास खाना न तो मुसलमानों का धार्मिक कर्तव्य है न ईसाइयों का।"[24]

सम्भव है कि शुरू-शुरू में यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण या गम्भीर न प्रतीत हो कि केवल हिन्दू विद्वानो के बीच होने वाले विद्वत्तापूर्ण वादविवाद को कुछ पक्ष अपने स्वार्थ के लिए जान-बूझकर हिन्दू-मुस्लिम समस्या में बदल देते हैं; पर आम तौर पर गालियां मुसलमानों पर ही पड़ती हैं और इस बात से उनके लिए बहुत महत्त्वपूर्ण अन्तर पड़ता है। कम-से-कम आंशिक रूप से इस बात से यह समझ मे आ जाना चाहिए कि मुसलमान राष्ट्रीय जीवन की मूल धारा के प्रति इतना उदासीन क्यों रहते हैं, जिस रवैये के लिए उनकी बहुत कटु आलोचना की जाती है।

वास्तव में मुसलमानों को यह भय रहता है कि यदि उन्होंने ऐसी समस्याओं पर बहस मे भाग लिया जिनका सम्बन्ध हिन्दुओं की भावनाओं से हो, तो सारी बहस साम्प्रदायिक रूप धारण कर लेगी। उर्दू दैनिक 'अल-जमीयत' अपने सम्पादकीय मे लिखता है, "अब हालत यह हो गयी है कि अगर कोई मुस्लिम अखबार गोकुशी के सवाल पर बहस करता है तो लोग उस पर एतराज करते हैं और हुकूमत भी इसे दोनो फिरको के बीच फ़िरकावाराना नफरत फैलाने के बराबर समझती है। हम एक ऐसी मंज़िल पर पहुँच गये हैं कि अगर कोई गैर-मुस्लिम अखबार यह साबित करने के लिए कि वैदिक दौर मे लोग गाय का गोश्त खाते थे कोई मज़मून छापे और कोई मुस्लिम अखबार उसे अपने यहाँ फिर से छाप दे तो उस हिन्दू अखबार को तो भुला दिया जाता है जिसमे वह मज़मून पहले-पहल छपा था, लेकिन उसे दुबारा छापने वाले मुस्लिम अखबार को मुजरिम ठहराया जाता है।"[25] ऐसी हालत में मुसलमानों से यह आशा करना अन्याय है कि दूसरे सम्प्रदायो के साथ अपने सम्बन्धों में वे और ज्यादा खुलें।

हमारा झुकाव धर्म-निरपेक्ष आदर्शों की ओर कितना ही अधिक क्यों न हो, लेकिन भारतीयों की साम्प्रदायिक कमजोरियों से इंकार नही किया जा सकता। ये कमजोरियां कई तरह से काम करती हैं और इनका प्रभाव इतना गहरा है कि धर्म-निरपेक्ष भारत के नीति-निर्धारक भी बहुधा इनके शिकार हो जाते है, विशेष रूप से पाकिस्तान के साथ भारत के सम्बन्धो के मामले मे। अपने-अपने संविधानों के अनुसार दोनों देश बिलकुल ही अलग-अलग राष्ट्र हैं, लेकिन हिन्दू-मुस्लिम समस्या के प्रसंग मे भारत पाकिस्तानी हिन्दुओं का उतना ही बड़ा रक्षक बन जाता है जितना कि पाकिस्तान भारतीय मुसलमानों का रक्षक होने का दावा करता है। इससे मुसलमानों के मन में आशंका पैदा होती है। उदाहरण के लिए, जिस क्षेत्र को पहले 'पूर्वी पाकिस्तान' कहा जाता था वहाँ से हिन्दुओं के बहुत बडी संख्या में भागने पर सरकार ने जो चिन्ता प्रकट की उस पर मुसलमानों का कहना यह है कि भारत के मुसलमानों की तरह पाकिस्तान के हिन्दुओं

को भी दोनों देशों में से एक को चुन लेने का अवसर दिया गया था। जो लोग 'धर्म-निरपेक्ष' राज्य में रहना चाहते थे वे सीमा पार करके इधर चले आये और भारत में बस गये; जो लोग उस समय नहीं आये जबकि द्वार खुले हुए थे तो उन्होंने अपनी पसन्द से ही ऐसा किया। अब केवल हिन्दू होने के कारण भारत को उनका 'रक्षक' बनने की कोई ज़रूरत नहीं है। पर यह एक तथ्य है कि जब भी वे अपना देश छोड़कर भारत आते हैं तो उन्हें 'शरणार्थी' समझा जाता है; अगर पाकिस्तान के मुसलमान ऐसा ही करते हैं तो वे फौरन् 'घुसपैठिये' बन जाते हैं। यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या यह सम्भव नहीं है कि वह 'घुसपैठिया' भी अपना देश उन्हीं कारणों से छोड़कर आया हो जिन कारणों ने किसी हिन्दू को शरणार्थी बनने पर मजबूर कर दिया हो?[20]

वर्तमान भारतीय राजनीतिक स्थिति में, जिसमें व्यावहारिक स्वार्थ को तर्क से ऊँचा स्थान दिया जाता है, ऊपर दी गयी आलोचना को पूर्वाग्रहपूर्ण या दुराग्रहपूर्ण भावना मात्र समझा जा सकता है। कहा जा सकता है कि पाकिस्तानी हिन्दुओं के 'खुले' निष्क्रमण की तुलना भारत में पाकिस्तानी मुसलमानों के चोरी-छिपे आने के साथ नहीं की जा सकती है। हिन्दुओं के बारे में तो यह कहा जा सकता है कि सम्भवतः वे धार्मिक आधार पर ऐसा कर रहे हों पर यहाँ आने वाले पाकिस्तानी मुसलमानों के बारे में तो इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसलिए, दोनों उदाहरणों को बराबर महत्त्व नहीं दिया जा सकता और राज्यसत्ता को अपने विवेक का प्रयोग करना पड़ता है। फिर भी भारत के मुसलमानों को यह समझाना कठिन है कि स्वयं उनके देश में धर्म के आधार पर उनके साथ कोई भेदभाव नहीं बरता जाता, विशेष रूप से नेहरू-लियाकत समझौते को देखते हुए। इस समझौते में दोनों ही देशों को दूसरे देश के हिन्दुओं और मुसलमानों के मामलात के बारे में चिन्ता प्रकट करने का अधिकार दिया गया है। पाकिस्तान को छोड़कर संसार के किसी भी मुस्लिम देश को यह अधिकार नहीं दिया गया है; इसी तरह किसी भी देश ने—पाकिस्तान को छोड़कर—भारत को वहाँ की हिन्दू आबादी की ओर से बोलने का अधिकार नहीं दिया है।

अपने सहधर्मियों के प्रति अलग-अलग व्यक्तियों का चिन्ता प्रकट करना तो समझ में आता है, पर जब यही चिन्ता शासनों के स्तर पर या राष्ट्रीय स्तर पर प्रकट की जाती है तो वह आपत्तिजनक हो जाती है। इन परिस्थितियों में किसी का यह कहना ठीक ही होगा कि धर्म-निरपेक्षता अभी तक साम्प्रदायिक कमज़ोरियों पर काबू पाने में सफल नहीं हुई है।

5

धर्म को धर्म-निरपेक्षता के क्षेत्र मे ढकेल देने की प्रवृत्ति भी इतनी ही खेदजनक है। सासारिक जीवन को तो हम धर्म की परिधि के बाहर रखते हैं, पर लोगो को धर्म-निरपेक्ष और आधुनिक जीवन-पद्धति अपनाने पर तत्पर करने के लिए हम धर्म की सत्ता का लाभ उठाने की कोशिश करते हैं। भारत में धर्म-निरपेक्षता का हर समर्थक—वह मुसलमान हो या हिन्दू—इस दोहरे मानदण्ड को बरतने का अपराधी है। उदाहरण के लिए, परिवार-नियोजन के सवाल को ले लीजिये। सरकार 'धार्मिक प्रवृत्ति रखने वाले' मुसलमानों को जब क़ुरान और हदीस के आधार पर परिवार-नियोजन का औचित्य और उपयोगिता समझाने का प्रयत्न करती है तो उसमें यह आशय निहित होता है कि जब तक धार्मिक रूप से इसकी अनुमति नही होगी तब तक मुसलमान इसे नहीं अपनायेंगे। इस काम के लिए बहुधा उलमा लोगो की राय का लाभ उठाया जाता है; और शोध संस्थाओं के कल्पित नामो से धर्म-ग्रन्थो के उद्धरणो की पुस्तिकाएं प्रकाशित करके मुफ्त बांटी जाती हैं।[27] शायद मुसलमानों को परिवार-नियोजन के विचार के निकट लाने के लिए ही ऐसा किया जाता है, इस बात को समझे बिना कि इस तरह की कोशिशो से हम फिर मुसलमानो को उलमा की शरण मे ढकेल देते हैं।

टिप्पणियाँ

1. ए० बी० शाह, 'चेलेंजेज़ टु सेक्यूलरिज्म', बम्बई, नचिकेता, 1968, अध्याय 3, 'इस्लाम इन इंडिया : चेलेंज एण्ड अपारच्युनिटी', पृ० 36
2. एस० आबिद हुसैन, 'द डेस्टनी ऑफ इंडियन मुस्लिम्स', बम्बई, एशिया, 1965, पृ० 163
3. ए० बी० शाह, पूर्वोक्त, पृ० 33-34
4. देखिये, उदाहरण के लिए, दलवाई का वक्तव्य, पूर्वोक्त, अध्याय 5, पृ० 60-61
5. एस० आबिद हुसैन, पूर्वोक्त, पृ० 163
6. उपर्युक्त।
7. इरफान हबीब, 'द टाइम्स ऑफ इंडिया' के रविवारीय परिशिष्ट (दिल्ली, 9 मार्च, 1969) मे प्रकाशित 'इण्टरव्यू : द राइटिंग ऑफ हिस्ट्री' मे।
8. आबिद रजा बेदार, 'द वैलिडिटी ऑफ द इंडियन मुसलमान' 'सेक्यूलर डेमोक्रेसी', नई दिल्ली, (1/8, सितम्बर 1968, पृ० 15। धर्म-निरपेक्षता पर उनके विचारो के लिए देखिये उनकी उर्दू पुस्तक 'सीमा की तलाश : हिन्दुस्तानी मुसलमानों के भारतीयकरण का मसला', नई दिल्ली, मुस्लिम प्रोग्रेसिव ग्रुप, 1970। मूल-धारा के प्रश्न पर इसी प्रकार की आलोचना के लिए देखिये मौलाना अब्दुल माजिद दरियाबादी, 'यह कौमी धारा', उर्दू साप्ताहिक 'सिद्के-जदीद', लखनऊ, 7 जून, 1968

9. वेल्फ्रेड कैंटवेल स्मिथ, 'मॉडर्नाइजेशन ग्रॉफ ए ट्रेडिशनल सोसाइटी', बम्बई, एशिया, 1965, पृ० 15
10. उपर्युक्त, पृ० 13
11. एम० मुजीब, 'द इनडिविजुग्रल इन सेक्यूलर सोसाइटी', सेक्यूलर डेमोक्रेसी, नई दिल्ली, 1/7, ग्रगस्त 1968, पृ० 13
12. देखिये, नजमुल हसन, 'ग्रोनियंग एण्ड सेक्यूलरिज्म', 'द सेक्यूलरिस्ट', नवम्बर 1971, पृ० 11-12 (यह उद्धरण पृ० 12 पर है।)
13. एस० ग्रालम ख़ुदमीरी, 'सेक्यूलरिज्म, रिलिजन एण्ड एजुकेशन', वी० के० सिन्हा द्वारा सम्पादित पुस्तक 'सेक्यूलरिज्म इन इंडिया' मे, बम्बई, ललवानी, 1968, पृ० 94। इस प्रसंग मे ग्रौर भी देखिये बर्नार्ड एस० कोह्न, 'द पास्ट्स ग्रॉफ एन इंडियन विलेज', 'कंपेरेटिव स्टडीज इन सोसाइटी एण्ड हिस्ट्री' मे 3, 1961, पृ० 241-249
14. देखिये उदाहरण के लिए ग्रान्ध्र प्रदेश मे तीसरी कक्षा के छात्रो के लिए स्वीकृत भारतीय इतिहास की एक पाठ्य-पुस्तक। इस पुस्तक में 13 पाठ हैं, ग्रौर वे हैं: (1) रामायण, (2) महाभारत, (3) बुद्ध, (4) ग्रशोक महान, (5) विक्रमादित्य, (6) हर्ष, (7) पुलकेशिन द्वितीय, (8) प्रताप रुद्र: ('.. प्रताप ने उत्तर भारत के मुस्लिम *ग्राक्रमणकारियो से टक्कर लेकर ग्रपनी वीरता से हिन्दू धर्म को बचा लिया।* उसने पहले ग्राक्रमण मे मुहम्मद-बिन-तुग़लक को परास्त किया।...), (9) चित्तौड की पद्मिनी, (10) कृष्ण देव राया, (11) शिवाजी: ('. .शिवाजी एक बहादुर सिपाही ग्रौर कट्टर हिन्दू था। उसने ग्रनेक मुस्लिम राज्यो के बीच एक नये हिन्दू राज्य की स्थापना की। उसने ग्रौरंगजेब को बहुत परेशान किया।...), (12) झाँसी की लक्ष्मी-बाई की कहानी, (13) महात्मा गाधी (देखिये, ख़ुदमीरी, पूर्वोक्त, पृ० 98)। उत्तर प्रदेश के स्कूलो में पढ़ायी जाने वाली कुछ पाठ्य-पुस्तको की विवेचना के लिए देखिये रशीद नोमानी, 'टेक्स्ट-बुक्स फॉर सेक्यूलर इंडिया', नई दिल्ली, साम्प्रदायिकता विरोधी कमेटी, 1970
15. ख़ुदमीरी, पूर्वोक्त, पृ० 96
16. एम० ग्रार० ए० बेग, 'इन डिफरेंट सैंडल्स', बम्बई, एशिया, 1967, पृ० 172
17. देखिये, उदाहरण के लिए, साप्ताहिक 'निदा ए-मिल्लत', लखनऊ, 23 ग्रगस्त, 1970
18. ए० बी० शाह, 'चैलेंजेज टु सेक्यूलरिज्म', बम्बई, 1968, पृ० 45
19. उपर्युक्त, पृ० 45-46
20. उपर्युक्त, पृ० 47
21. देखिये, ए० बी० शाह (सम्पादित), 'काऊ-स्लाटर: हार्न्स ग्रॉफ ए डाइलेमा', बम्बई, 1967
22. ए० बी० शाह, 'चैलेंजेज टु सेक्यूलरिज्म', पृ० 28
23. सबसे पहले 'द स्टेट्समैन', कलकत्ता के 10 जनवरी 1967 के ग्रंक मे प्रकाशित। बाद मे ए० बी० शाह की पुस्तक 'चैलेंजेज टु सेक्यूलरिज्म' में सम्मिलित, बम्बई, पृ० 1-22
24. उपर्युक्त, पृ० 20
25. उर्दू दैनिक 'ग्रल-जमीयत', दिल्ली, 28 जून, 1970
26. देखिये, उदाहरण के लिए, 'मशरिकी हिन्दुस्तान की खुली सरहद: हिन्दू-मुस्लिम दर-ग्रन्दाजों का मसला', साप्ताहिक 'निदा-ए-मिल्लत', लखनऊ, 20/25, 9 ग्रगस्त, 1970, पृ० 13

7

निष्कर्ष

मुसलमान धर्म-निरपेक्षीकरण की माँग के प्रति उत्साह क्यों नहीं प्रकट करते हैं इसे समझने का रहस्य दो शब्दों में निहित प्रतीत होता है : नव-प्रयोग और परम्परा। यदि धर्म-निरपेक्षता सांसारिक जीवन को धर्म के नियंत्रण के बाहर रखती है तो यह एक ऐसा नव-प्रयोग है जिसका इस्लामी इतिहास में इससे पहले कोई उदाहरण नही मिलता; और इसीलिए धर्मनिष्ठ मुसलमानों को वह अस्वीकार्य है। परन्तु यदि धर्म-निरपेक्षता का अर्थ केवल यह हो कि धर्म के मामले में राज्यसत्ता किसी सम्प्रदाय-विशेष के साथ पक्षपात नही करती, तो इसे इस्लामी परम्परा के अनुकूल समझा जाता है जिसमे हर नागरिक को धार्मिक स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया गया है। धर्म-निरपेक्षता की इस कल्पना से मुसलमान अपरिचित नहीं हैं और इसलिए वे अपने धर्म इस्लाम और धर्म-निरपेक्षता के बीच कोई संघर्ष नही देखते।

परन्तु जब धर्म-निरपेक्षता उस क्षेत्र का एक हिस्सा माँगती है जिस पर ईश्वर का अधिकार है तो वह धर्म-विरोधी हो जाती है। यहाँ पहुँचकर धर्मनिष्ठ मुसलमान एक जीवन-पद्धति के रूप मे धर्म-निरपेक्षता को स्वीकार करने में संकोच करता है क्योकि वह इस ससार के जीवन के लिए नही जीवित रहता है; उससे आशा की जाती है कि उसकी सारी जिन्दगी और उसका हर काम 'आकबत' (आगामी लोक) के लिए होगा। यह तो सच है अब से पहले अक्सर ऐसा हो चुका है कि मुसलमानो ने अपने शासकों को मनचाहा हिस्सा लेकर बचा-खुचा खुदा के हिस्से का छोड़ देने की पूरी छूट दी है; भारत का ब्रिटिश शासन इसका एक बहुत ताजा उदाहरण है। इसलिए कहा जा सकता है कि मुसलमानों के लिए इस परम्परा को चलने देने मे कोई कठिनाई नही होनी चाहिए थी। लेकिन बहुधा यह बात भुला दी जाती है कि मुसलमानों ने बहुत बड़ी हद तक स्वतन्त्रता संग्राम में अपने धार्मिक नेताओं, अर्थात् उलमा के इन वायदों से प्रेरित होकर ही भाग लिया था कि भारत से अंग्रेजो के चले जाने के बाद

27. देखिये, उदाहरण के लिए, 'खानदानी मंसूबाबन्दी : कुरान और हदीस की रोशनी में', जिसे रहमान नैयर नामक किसी व्यक्ति ने संकलित किया था और 'इस्लामिक रिसर्च सोसाइटी' (जामियानगर, नई दिल्ली) ने प्रकाशित किया था। दिलचस्प बात यह है कि जामियानगर में इस प्रकार की किसी सोसायटी के अस्तित्व का किसी को पता नहीं है, और न ही संकलनकर्ता के बारे में सही जानकारी है। दिल्ली के विभिन्न डाकखानों से सारे देश में बहुत-से लोगों को मुफ्त बहुत-से पैकेट डाक से भेजे गये थे और जो पैकेट अपने पतों पर नहीं पहुँच सके वे जामियानगर के डाकखाने के लिए एक समस्या बन गये क्योंकि वह भेजने वाले का पता नहीं लगा सका। अन्त में डाकखाने ने इनमें से बहुत-से पैकेट जामिया मिल्लिया इस्लामिया के वाइस-चांसलर के निजी सहायक के दफ़्तर में शायद यह मानकर भिजवा दिये कि जिस चीज के साथ 'इस्लाम' का नाम जुड़ा हो वह जामिया मिल्लिया इस्लामिया की ही होगी।

7

निष्कर्ष

मुसलमान धर्म-निरपेक्षीकरण की माँग के प्रति उत्साह क्यों नही प्रकट करते हैं इसे समझने का रहस्य दो शब्दों में निहित प्रतीत होता है : नव-प्रयोग और परम्परा। यदि धर्म-निरपेक्षता सांसारिक जीवन को धर्म के नियंत्रण के बाहर रखती है तो यह एक ऐसा नव-प्रयोग है जिसका इस्लामी इतिहास में इससे पहले कोई उदाहरण नही मिलता; और इसीलिए धर्मनिष्ठ मुसलमानों को वह अस्वीकार्य है। परन्तु यदि धर्म-निरपेक्षता का अर्थ केवल यह हो कि धर्म के मामले में राज्यसत्ता किसी सम्प्रदाय-विशेष के साथ पक्षपात नही करती, तो इसे इस्लामी परम्परा के अनुकूल समझा जाता है जिसमें हर नागरिक को धार्मिक स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया गया है। धर्म-निरपेक्षता की इस कल्पना से मुसलमान अपरिचित नही हैं और इसलिए वे अपने धर्म इस्लाम और धर्म-निरपेक्षता के बीच कोई संघर्ष नही देखते।

परन्तु जब धर्म-निरपेक्षता उस क्षेत्र का एक हिस्सा माँगती है जिस पर ईश्वर का अधिकार है तो वह धर्म-विरोधी हो जाती है। यहाँ पहुँचकर धर्मनिष्ठ मुसलमान एक जीवन-पद्धति के रूप में धर्म-निरपेक्षता को स्वीकार करने में संकोच करता है क्योंकि वह इस ससार के जीवन के लिए नही जीवित रहता है; उससे आशा की जाती है कि उसकी सारी जिन्दगी और उसका हर काम 'आकबत' (आगामी लोक) के लिए होगा। यह तो सच है अब से पहले अवसर ऐसा हो चुका है कि मुसलमानों ने अपने शासकों को मनचाहा हिस्सा लेकर बचा-खुचा खुदा के हिस्से का छोड़ देने की पूरी छूट दी है; भारत का ब्रिटिश शासन इसका एक बहुत ताजा उदाहरण है। इसलिए कहा जा सकता है कि मुसलमानों के लिए इस परम्परा को चलने देने मे कोई कठिनाई नही होनी चाहिए थी। लेकिन बहुधा यह बात भुला दी जाती है कि मुसलमानों ने बहुत बड़ी हद तक स्वतन्त्रता संग्राम मे अपने धार्मिक नेताओ, अर्थात् उलमा के इन वायदों से प्रेरित होकर ही भाग लिया था कि भारत से अंग्रेजो के चले जाने के बाद

उन्हे अपने धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करने का अवसर मिलेगा। देश के बँटवारे ने भारत मे धार्मिक पुनरुत्थान की मुस्लिम आशाओं पर पानी फेर दिया; फिर भी एक ऐसे धर्म-निरपेक्ष राज्य मे रहने की सम्भावना ने, जिसके बारे में यह समझा जाता है कि उसमें बिना किसी भेदभाव के हर नागरिक को धार्मिक आस्था और आचरण की पूर्ण स्वतन्त्रता का आश्वासन है, अपने धार्मिक भविष्य के बारे मे मुसलमानों का विश्वास फिर दृढ़ कर दिया।

यदि मुसलमानों के लिए धर्म का अर्थ केवल मनुष्य और ईश्वर के वैयक्तिक सम्बन्ध तक सीमित होता तो शायद वे बिना किसी शर्त के धर्म-निरपेक्षीकरण की शक्तियों के आगे हथियार डाल देते। लेकिन उनके धार्मिक नेता अर्थात् उलमा, लगातार उन्हे यही बताते रहते हैं कि इस्लाम केवल एक दार्शनिक विचार-धारा नही है; वह खुदा के हाथों मे इंसान की मुकम्मल और बिला शर्त सुपुर्दगी है; अपने अनुयायियों से उसके तकाज़े राज्यसत्ता के तक़ाज़ों से कही ज्यादा हैं। इसी वजह से मुसलमान पूर्णतः धर्म-निरपेक्ष राज्य के निर्माण में सहयोग देने में संकोच करते हैं।

शायद कुछ लोगों को यह बात अच्छी न लगे कि लगभग पूरा मुस्लिम समाज अभी तक इस अर्थ मे धार्मिक है कि वह अनिवार्य रूप से हर नयी बात के लिए धर्म का अनुमोदन चाहता है, लेकिन हम देख चुके हैं कि इस अनुमोदन के लिए वे प्रणालीबद्ध कार्य-विधियो मे कितना दृढ विश्वास रखते हैं। जब तक कोई नयी बात एक परम्परा न बन जाय तब तक उसे पूरी तरह स्वीकार नही किया जा सकता। इसलिए ऐसा लगता है कि जब तक धर्म-निरपेक्षता को उलमा का आशीर्वाद नही मिल जायगा तब तक मुस्लिम समाज मे वह बहुत अधिक प्रगति नही कर पायेगी।

2

धर्म के अतिरिक्त कुछ और भी बातें हैं, जैसे आर्थिक दृष्टि से पिछड़ापन, राज-नीतिक अ-रक्षा की भावना, जिनके कारण मुसलमानों को धर्म-निरपेक्षता के प्रति अपने उदासीनता के रवैये के लिए एक बहाना मिल जाता है। इसके अतिरिक्त मुसलमान यह भी अनुभव करते हैं कि गैर-मुस्लिम भारतीय भी धर्म-निरपेक्ष नहीं है और परम्पराओं मे जकड़े हुए हैं। उदाहरण के लिए, यदि किसी धर्म-निरपेक्ष संस्था मे किसी भी विषय पर—धर्म-निरपेक्षता पर भी—किसी शुद्धत. विद्वत्तापूर्ण विचार-गोष्ठी का उद्घाटन वैदिक मंत्रोच्चार से किया जाता है तो इसे एक स्वाभाविक बात समझा जाता है; परन्तु यदि ऐसा ही कोई

आयोजन क़ुरान की आयतों के पाठ से आरम्भ किया जाय तो उसे धर्म-निरपेक्षता का निषेध समझा जायगा। इस प्रकार बहुत-से मुसलमान समझते है कि हिन्दुओं को बहुत बड़ी सुविधा यह है कि वे अपनी जितनी भी धार्मिक परम्पराएँ चाहें भारतीय सभ्यता के नाम पर सुरक्षित रख सकते है; लेकिन जहाँ तक मुसलमानों का सवाल है, भारत मे उनके अतीत को बहुधा एक अ-भारतीय सभ्यता का अंग समझा जाता है।

इस प्रसंग मे यह कहा जा सकता है कि इतिहास की इस 'संकीर्ण' कल्पना को व्यापक बनाना आवश्यक है और मुसलमानों को यह समझना चाहिए कि सम्पूर्ण भारतीय सभ्यता उनकी परम्पराओ का ही अंग है। बिलकुल ठीक है, लेकिन मुसलमान सम्पूर्ण भारतीय सभ्यता के ही उत्तराधिकारी नही हैं—राष्ट्रीय प्रसंग मे—बलिक सम्पूर्ण इस्लामी सभ्यता के भी उत्तराधिकारी हैं, विशेष रूप से धार्मिक प्रसंग में। पहले वाले प्रसंग मे वे उतने ही भारतीय हैं जितना कि भारत का कोई दूसरा सम्प्रदाय। फिर भी धार्मिक क्षेत्र में उनकी स्थिति भारतीय ईसाइयों जैसी है जो एक अ-भारतीय ईसा को प्रेरणा का स्रोत मानते हैं, या सिखों जैसी जिनके मन में अब भी गुरु नानक के जन्मस्थान ननकाना साहब के लिए, जो अब पाकिस्तान में है, एक ललक बनी हुई है।

स्पष्टतः, उलमा लोग और मुस्लिम जनमत के अनेक दूसरे नेता, अपने तमाम राजनीतिक मतभेदो के बावजूद, इस एक बात पर पूरी तरह सहमत है कि धर्म-निरपेक्षीकरण के नाम पर उनके सम्प्रदाय को अपने विशिष्ट रूप और अपनी परम्पराओ से हाथ धोने की अनुमति नही दी जा सकती। फिर भी दोनों ही पक्षों मे ऐसे लोग है जो इस बात को जानते हैं कि परिवर्तन अनिवार्य है और उसे हमेशा के लिए नही रोका जा सकता; फिर भी वे अपने को एक ऐसी अंधी गली मे फँसा हुआ पाते हैं जिससे बाहर निकलने का कोई रास्ता दिखायी नही देता। इस स्थिति में वांछनीय यही है कि उनमे परिवर्तन की त्वरित आवश्यकता का विश्वास पैदा किया जाय और इस विश्वास को मुस्लिम जन-साधारण तक ले जाने के लिए उन्हें प्रोत्साहित किया जाय। इस उद्देश्य को पूरा करने मे संसद के मुस्लिम सदस्य बहुत सहायक सिद्ध हो सकते हैं। अपने संयुक्त प्रयासो से यदि वे उलमा का समर्थन प्राप्त कर लें तो निश्चित रूप से यह सम्भव है कि मुसलमान वर्तमान गतिरोध से बाहर निकल सकें।

सम्भवतः कुछ लोग उलमा के माध्यम से मुस्लिम जन-साधारण तक पहुँचने के विचार को हास्यास्पद समझेंगे; वे यह तर्क तक देने को तैयार हो जायेंगे कि देश को इस बात की प्रतीक्षा नही करनी चाहिए कि मुसलमान उनके आर्थिक-राजनीतिक विकास में पूरी तरह भाग लें। यदि मुसलमान स्वेच्छापूर्वक आगे आते हैं तो उन्हीं का लाभ है; यदि वे नहीं आते तो हानि उन्ही की होगी।

फ़ैसला वे स्वयं कर लें, पर धर्म-निरपेक्षीकरण के कार्यक्रम में कोई विलम्ब नहीं किया जाना चाहिए।

इस विचार से लोगों के एक वर्ग-विशेष को प्रसन्नता हो सकती है, पर वास्तव में इससे न केवल मुसलमानों को बल्कि पूरे देश को बहुत क्षति पहुँचेगी। यह बात भारत के राष्ट्रीय हित के अनुकूल नहीं हो सकती कि उसकी जन-संख्या का दसवें से अधिक भाग सामाजिक, बौद्धिक और आर्थिक दृष्टि से अविकसित रहे। आज भारत के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि कोई ऐसा माध्यम विकसित किया जाय जिसकी सहायता से मुसलमान अपनी सामाजिक संस्थाओं को नया रूप दे सकें—यह अनुभव करते हुए कि वे अपनी उन्मुक्त इच्छा से ऐसा कर रहे हैं, किसी दूसरे के आदेश से नहीं। अगर हमने ऐसा न किया तो हमें अगली पीढ़ी में—या शायद अगली दशाब्दी में ही—इस गलती की क़ीमत चुकानी पड़ेगी। किसी भी धर्म-निरपेक्ष व्यवस्था के लिए यह कोई कलंक की बात नहीं है कि वह अपने वैविध्यपूर्ण समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विशेष कार्य-विधियाँ विकसित करे। भारत ने अपने भाषागत वैविध्य की समस्याओं को तो एक तरह से सुलझा लिया है; अब उसे अपनी धार्मिक जटिलताओं की ओर पर्याप्त ध्यान देना होगा।

3

समय आ गया है कि उलमा लोगों को भी यह समझ लेना चाहिए कि मानव-जीवन में परिवर्तन की शक्तियों के प्रबल प्रहार के परिणाम क्या होते हैं। सारी दुनिया में युवकों में बेचैनी है, और मुस्लिम युवक इसके अपवाद नहीं हैं। नयी पीढ़ी अपने विचारों और अपनी मनोवृत्ति की दृष्टि से उलमा की पीढ़ी नहीं है। इसलिए यदि उलमा चाहते हैं कि मुस्लिम युवकों के विचारों पर धर्म का प्रभाव बना रहे तो उन्हें वर्तमान स्थिति से सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए। उन्हें यह भी याद रखना चाहिए कि भारत और मुख्यतः मुस्लिम देशों के बीच एक अन्तर है। यद्यपि बाहर से देखने में वे आधुनिक अवश्य हैं पर ये मुस्लिम देश भी उलमा के समर्थन से वंचित हो जाने का खतरा मोल नहीं ले सकते। फलस्वरूप, वहाँ के बहुत-से मुस्लिम बुद्धिजीवियों को उलमा के विरोध का सामना करते हुए विधर्मी रवैया अपनाने में कठिनाई होती है। पर भारत में स्थिति दूसरी है; यहाँ की सरकार अपने अस्तित्व के लिए उलमा पर निर्भर नहीं है। इसके फलस्वरूप भारत के मुस्लिम बुद्धिजीवी किसी कठोर दण्ड के भय के बिना परम्परागत मार्ग से हटकर दूसरा मार्ग अपना सकते हैं।

उलमा को इस बात पर गम्भीरता से ध्यान देना चाहिए। अब तक वे भारत में मुसलमानों के धार्मिक जीवन के एकमात्र संरक्षक रहे हैं; पर हो सकता है कि यह परिस्थिति बहुत समय तक न रहे। यद्यपि भारतीय मुसलमानों की नयी पीढ़ी के मन में अब भी पुराने धार्मिक नेतृत्व के प्रति कुछ लगाव बाक़ी है, फिर भी वह परिवर्तन के उपाय खोज रही है : बहुत धीरे-धीरे, लगभग अदृश्य रूप से वह धर्म-निरपेक्षीकरण की ओर बढ़ रही है। उनका भावी कदम क्या होगा इसके बारे में उसने अभी कोई निर्णय नहीं किया है, लेकिन जैसे-जैसे इस पीढ़ी को अधिकाधिक धर्म-निरपेक्ष और आधुनिक शिक्षा मिलती जायगी, उतनी ही इस बात की भी सम्भावना बढ़ती जायगी कि वे कट्टरपंथियों से नाता तोड़ लें। जो लोग परम्परागत ढंग की धार्मिक शिक्षा प्राप्त करते हैं, उनमें भी इस परम्परा के प्रति असन्तोष बढ़ता जा रहा है। हम देख चुके हैं कि मदरसों के कुछ स्नातक भारतीय या विदेशी विश्वविद्यालयों में शिक्षा की मूल धारा में प्रवेश करने का प्रयत्न करते हैं। आधुनिकता की समस्याओं के सम्मुख आकर वे आम तौर पर 'नव-प्रयोग करने' और नये हल खोजने का प्रयत्न करते हैं। यदि मदरसों के स्नातकों की पुरानी और नयी पीढ़ियों के बीच यह अन्तर बढ़ता गया तो सम्भावना यह है कि नयी पीढ़ी, जो आधुनिक ज्ञान से भी परिचित होगी और परम्परागत ज्ञान से भी, एक दिन नेतृत्व अपने हाथ में सँभाल ले। यदि परम्परागत उलमा धर्म-निरपेक्ष भारत में अपनी स्थिति पर गम्भीरतापूर्वक पुनर्विचार करने में असफल रहते हैं तो भारतीय मुसलमानों के लिए एक नयी समाज-व्यवस्था का निर्माण करने का भार 'नये उलमा' को सँभालना होगा।

मुस्लिम पर्सनल लॉ (शरीअत) परिपालन अधिनियम 1937

1937 का अधिनियम 26

सार

1. उत्तराधिकार (विरासत) निकाह, निकाह भंग करने, जिसमे तलाक भी शामिल है, ईला, ज़िहार, लआन, खुला, मुबारअत, मेहर, विलायत और औक़ाफ़ के मामले में मुसलमानो पर मुस्लिम पर्सनल लॉ (शरीअत) लागू होगा और इन मामलात से सम्बन्धित ऐसे सभी स्थानीय रस्मो-रिवाज जो शरीअत के विरुद्ध हों, अमान्य समझे जायंगे।
2. वसीअत और गोद लेने के बारे में मुस्लिम पर्सनल लॉ की पाबन्दी स्वैच्छिक होगी, लेकिन अगर कोई समझदार और प्रौढ़ मुसलमान अपने को इन मामलात मे भी मुस्लिम पर्सनल लॉ के अधीन कर देता है तो वह खुद, उसकी नाबालिग औलाद और उनकी बाद की पुश्तें इन मामलात मे भी शरीअत के क़ानूनों की पाबन्द होंगी।
3. (आन्ध्र प्रदेश राज्य के आन्ध्र क्षेत्र और तमिलनाडु राज्य को छोड़कर शेप भारत मे) खेती की जमीन से सम्बन्धित उत्तराधिकार के मुक़दमों पर मुस्लिम पर्सनल लॉ लागू न होगा।
4. विरासत और वसीअत के मामलात मे मोपला और मेमन मुसलमानों पर मुस्लिम पर्सनल लॉ लागू न होगा, बल्कि इन लोगों के मुक़दमे मोपला उत्तराधिकार अधिनियम, 1918, मोपला वसीअत अधिनियम 1928, और मेमन ऐक्ट 1938 के अनुसार तय किये जायंगे।

(सम्पूर्ण मूल पाठ के लिए देखिये इण्डिया कोड, 1958)

मुस्लिम विवाह-भंग अधिनियम 1939

1939 का अधिनियम 8

सार

1. हर मुसलमान औरत, जिसका विवाह इस्लामी तरीके से हुआ हो, निम्नलिखित आधारों पर अदालत के माध्यम से अपना विवाह रद्द करा सकती है :

   (क) उसका पति कम-से-कम सात साल से लापता हो।

   (ख) उसके पति ने कम-से-कम दो साल से उसे भरण-पोषण (नानो-नफ़्क़ा) न दिया हो।

   (ग) उसके पति को कम-से-कम सात वर्ष की क़ैद की सज़ा हो गयी हो। (कैद की सज़ा के बाक़ायदा फ़ैसले से पहले यह शर्त लागू नहीं होगी।)

   (घ) उसके पति ने किसी उचित कारण के बिना कम-से-कम तीन साल से उसके साथ स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध न रखे हों।

   (ङ) उसका पति निकाह के समय ही से नपुंसक हो। (इस आधार पर किये गये निर्णयों का परिपालन निर्णय की तारीख से कम-से-कम छः माह बाद होगा। अगर इस अवधि में पति अदालत को सन्तुष्ट कर देता है कि निकाह भंग करने का आधार बाक़ी नहीं रहा तो निर्णय काल-बाधित घोषित कर दिया जायगा।)

   (च) उसका पति कम-से-कम दो वर्ष से पागल हो, या कोढ़ अथवा किसी यौन-रोग से पीड़ित हो।

   (छ) पन्द्रह वर्ष से कम आयु की किसी लड़की का विवाह उसके बाप या क़ानूनी अभिभावक ने कर दिया हो और वह 18 वर्ष की आयु तक पहुँचने से पहले, बशर्ते कि पति-पत्नी में दाम्पत्य

सहवास के सम्बन्ध स्थापित न हुए हों, निकाह् भंग करने के लिए अर्ज़ी दे दे।

(ज) उसका पति क्रूरता का व्यवहार करता हो, अर्थात् पत्नी को कठोर शारीरिक पीड़ा पहुँचाता हो, या स्वयं व्यभिचारी जीवन व्यतीत करता हो, या पत्नी को व्यभिचार का जीवन व्यतीत करने पर मजबूर करता हो, या पत्नी की निजी सम्पत्ति का अपव्यय करता हो, या उसे धर्म के पालन से रोकता हो, या एक से अधिक पत्नियाँ होने की स्थिति में कुरान के आदेशों के अनुसार उनके साथ समान व्यवहार न करता हो।

(झ) कोई ऐसा आधार जिसे इस्लामी शरीअत ने निकाह् भंग करने के लिए स्वीकार किया हो।

2. अगर कोई मुसलमान औरत धर्म-परिवर्तन कर ले तो उसका निकाह् धर्म-परिवर्तन के कारण अपने-आप भंग नहीं हो जायगा, जब तक वह ऊपर बताये गये कारणों में से किसी कारण अपना निकाह् अदालत से भंग नहीं करा लेती। धर्म-परिवर्तन के बावजूद वह अपने मुसलमान शौहर की ही बीवी समझी जायगी। हाँ, अगर यह मुसलमान पत्नी निकाह् से पहले किसी दूसरे धर्म से सम्बन्ध रखती थी और बाद में मुसलमान होकर शरीअत के अनुसार उसने अपना निकाह् किया था और अब फिर अपने पुराने धर्म को अपना रही है तो उस स्थिति में इस्लाम त्यागने पर उसका निकाह् अपने-आप भंग हो जायगा।

नोट : निकाह् भंग अधिनियम 1939, जम्मू-कश्मीर राज्य को छोड़कर लगभग सारे देश में लागू है। इस राज्य में 1946 के एक विशेष राज्यीय अधिनियम का पालन होता है, जिसके सिद्धान्त कुछ आंशिक भेदों के साथ 1939 के केन्द्रीय अधिनियम की धाराओं के अनुरूप ही हैं।

(सम्पूर्ण मूल पाठ के लिए देखिये इण्डिया कोड, 1958)

अन्य विधियों से सम्पन्न विवाहों का पंजीयन

विशेष विवाह अधिनियम 1954

सार

1. इस कानून के अनुसार एक ही धर्म के मानने वाले मर्द और औरत या दो अलग-अलग धर्मों के मानने वाले पक्ष, यदि उन दोनों की आयु 21 वर्ष से कम न हो, अपना धर्म-परिवर्तन किये बिना, आपस में विवाह कर सकते है।
2. ऐसा विवाह गैर-अदालती तलाक द्वारा भंग नहीं हो सकता।
3. जिन लोगो के विवाह इस कानून के बनने से पहले या इसके बनने के बाद धार्मिक विधि से सम्पन्न हो चुके हों, अगर वे लोग भी चाहे तो इस कानून के अन्तर्गत अपने विवाहों का पंजीयन करा सकते हैं, बशर्ते कि दोनों पक्ष पंजीयन के समय एक पति या एक पत्नी के सिद्धान्त का पालन कर रहे हों।
4. पहले से निकाह किये हुए सन्तान वाले लोग अगर अपने विवाह का इस कानून के अन्तर्गत पंजीयन करायेंगे तो उनके बच्चो के नाम भी विवाह के रजिस्टर में लिख लिये जायेंगे और यह समझा जायगा कि वे बच्चे अपने माता-पिता की वैध सन्तान हैं।
5. ऊपर बतायी गयी कोटि के बच्चे अपने माता-पिता की सम्पत्ति के वैध उत्तराधिकारी समझे जायेंगे, लेकिन अगर इस कानून के न होने की स्थिति में ऊपर बतायी गयी कोटि के बच्चे अपने समाज में वैध सन्तान स्वीकार न किये जाने के कारण अपने माता-पिता के अन्य सम्बन्धियों की सम्पत्ति से वंचित ठहराये गये हों तो केवल इस कानून के कारण यह वंचना दूर न होगी।

6. इस कानून के अन्तर्गत विवाह करने वाले पक्षों पर किसी भी धर्म के उत्तराधिकार-सम्बन्धी कानून लागू नही होंगे, बल्कि पति-पत्नी मे से एक के मरने के बाद दूसरा पक्ष अपने-आप आधी सम्पत्ति का मालिक बन जायगा और अगर पति-पत्नी चाहें तो अपनी सारी जायदाद वसीअत के ज़रिये एक-दूसरे के नाम कर सकते हैं।

(सम्पूर्ण मूल पाठ के लिए देखिये इण्डिया कोड, 1958)

विवाह-भंग का क़रारनामा

बिस्मल्लाहिर्रहमानर्रहीम

यह क़रारनामा ग्राज बतारीख...माह...सन्...को एक तरफ...वल्द... (जिसे इसके बाद शौहर कहा गया है) ग्रौर दूसरी तरफ़...बिन्ते...(जिसे इसके बाद 'बीवी' कहा गया है) के दरम्यान किया गया।

चूंकि शौहर ग्रौर बीवी दोनों मजहबे-इस्लाम के...[1] फ़िरके से ताल्लुक करते हैं ग्रौर यह एलान करते हैं कि वे...[1] मुस्लिम पर्सनल लॉ के पाबन्द हैं।

ग्रौर चूंकि बतारीख...माह...हिजरी सन्..., मुताबिक़ तारीख...माह... ईसवी सन्...को शौहर ग्रौर बीवी के दरम्यान निकाह का ग्रक़्द होना[2] क़रार पाया है।

ग्रौर चूंकि शौहर ग्रौर बीवी दोनों इस बात पर राजी हैं ग्रौर यह इस क़रारनामे का बुनियादी मुद्दग्रा है कि बीवी को नीचे बताये गये हालात में तलाक़ का ग्रख्तियार होना चाहिए, इसलिए ग्रब इस बात की रजामन्दी जाहिर की जाती है ग्रौर एलान किया जाता है कि :

1. शौहर बतौर मेहर के रु०...(यहाँ रकम दर्ज कीजिये) ग्रदा करेगा ग्रौर शौहर इस मेहर की रकम मे से रु०...(मेहर की कुल रकम का ग्राधा) बीवी को निकाह के वक़्त ग्रदा करेगा ग्रौर रु०...की बाक़ी रकम सिर्फ उस सूरत मे ग्रदा की जायगी जब शौहर का इन्तकाल हो जाय या शौहर ग्रौर बीवी का तलाक हो जाय।

1. यहाँ पर दोनों फरीकों के फिरके का नाम लिखा जाय, यानी हनफी, शाफिई, इसना ग्रशरी वग़ैरह। ग्रगर दोनों फ़रीक़ ग्रलग-ग्रलग फिरक़ों के हों तो हिन्दुस्तान ग्रौर पाकिस्तान में यह ग्रौर भी जरूरी है।
2. इस बात पर जोर देना जरूरी है कि यह क़रारनामा शादी होने से पहले हो जाना चाहिए।

2. नीचे बतायी गयी शर्तों की पाबन्दी करते हुए बीवी को यह अख्तियार होगा कि वह नीचे कलम 3 में बताये गये तरीके से इन वजहों मे से किसी एक या एक से ज्यादा वजह की बुनियाद पर शादी से तलाक हासिल कर ले, यानी :

(अ) यह कि शौहर मुस्लिम शरीअत में बताये गये शौहर के फराइज का पाबन्द रहने और उन्हें पूरा करने में नाकाम रहा।

(1) आम बरताव और सलूक मे नरमदिली।

(2) अज्दवाजी हुक़ूक (दाम्पत्य अधिकारों) को पूरा करना।

(3) बीवी की परवरिश करना।

(ब) यह कि इस क़रारनामे की तारीख के बाद शौहर ने दूसरी औरत के साथ शादी कर ली है।

(स) यह कि शौहर और बीवी के मिजाज एक-दूसरे के मुआफिक नही है या यों भी शौहर बीवी को खुश रखने मे नाकाम है। या

(द) मुस्लिम तलाक कानून 1939 की दफा 2 में बतायी गयी वजहे या उनमें से कोई एक।

बशर्ते कि बीवी को तलाक का यह अख्तियार उस वक़्त तक नहीं होगा जब तक कि :

(1) शौहर तहरीर में यह क़बूल न कर ले कि ये वजहें मौजूद हैं या मौजूद थी। या

(2) बीवी का बाप···जब तक वह जिन्दा रहे या उसके मरने के बाद को दो बा-इज्जत आदमी शौहर को इस बात का मुनासिब मौका देने के बाद कि वह इस मामले में जो भी पैरवी करना चाहे कर ले, इस बात की सनद दे दें कि इस तरह की वजहे या कोई वजह मौजूद है या मौजूद थी।

3. बीवी तलाक के इस अख्तियार को इस्तेमाल करने के लिए किन्ही दो गवाहों के सामने यह एलान करेगी कि इस करारनामे के तहत उसे जो अख्तियार हासिल है उसके मुताबिक वह अपने शौहर को तलाक देती है और इस एलान की तारीख से यह शादी खत्म समझी जायगी।

4. तलाक के इस अख्तियार को शौहर रद्द नही कर सकता और न ही इस बात से इस अख्तियार पर कोई असर पड़ेगा कि बीवी ने किसी मौके पर या एक से ज्यादा मौको पर इस अख्तियार का इस्तेमाल नही किया था।

इस क़रारनामे के दोनों फ़रीक़ों ने ऊपर दर्ज की गयी तारीख़ और सन् को नीचे अपने-अपने दस्तख़त कर दिये हैं ताकि सनद रहे और ब-वक़्ते-ज़रूरत काम आये।

शौहर के दस्तख़त
गवाह
बीवी के दस्तख़त
गवाह

नोट : विवाह-भंग के इस करारनामे का उल्लेख 'धार्मिक संवेदनशीलता और कानून' नामक अध्याय में पृष्ठ 82 पर देखिये।

फ़ैज़ी, आउटलाइंस ऑफ़ मुहमडन लॉ, परिशिष्ट स, पृ० 466-468 से उद्धृत।

शब्दावली

इस शब्दावली में दी गयी व्याख्याओं को शब्दों के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ या उनके शाब्दिक अर्थ के अनुरूप नही समझा जाना चाहिए; जिन प्रसंगों में इन शब्दों को प्रयोग किया गया है उनके अनुरूप ही उनका भावार्थ यहाँ दिया जा रहा है।

आलिम : (बहु० उलमा) मुस्लिम धर्मज्ञानी, विद्वान, विशेषत: तथा तकनीकी दृष्टि से वह जो मदरसे का स्नातक हो।

इज्तिहाद : कानून अथवा धर्म से सम्बन्धित किसी भी समस्या पर किसी एक आलिम या उलमा की परिषद् द्वारा दिया गया तर्कसगत निष्कर्ष।

इज्मा : उलमा या उम्मः की सर्वसम्मत अनुमति; धर्मज्ञानियों की परिषद का सामूहिक मत।

इमाम : नेता, नमाज़ पढाने वाला।

इस्तिफ़्ता : फ़तवा माँगना; संज्ञा के रूप में, किसी भी सार्वजनिक अथवा निजी मामले के बारे में मुफ़्ती के पास भेजा गया वह प्रश्न जिसका शरीअः के अनुरूप उत्तर माँगा गया हो।

इस्लाम : समर्पण; खुदा की मर्जी की निःसंकोच स्वीकृति। व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप मे, उस धर्म का नाम जिसके अनुयायी मुस्लिम हैं।

ईमान : 'आस्था', अर्थात् हृदय से इस सत्य पर विश्वास करना और ज़बान से इस सत्य को स्वीकार करना कि खुदा एक है और मुहम्मद आखिरी पैग़म्बर हैं।

ईला : आत्म-संयम का व्रत; एक प्रकार का तलाक जिसमे पुरुष इस बात का

व्रत लेता है कि वह कम-से-कम चार महीने तक अपनी पत्नी के साथ सम्भोग नहीं करेगा और पूरी निष्ठा के साथ उसका पालन करता है। इस प्रकार क़ाज़ी से तलाक़ का आदेश प्राप्त किये बिना अपने आप ही तलाक़ हो जाता है।

उम्म : लोग, कौम, बिरादरी; मुस्लिम सम्प्रदाय।

उलमा : (आलिम का बहुवचन) बहुवचन रूप में इस शब्द का प्रयोग मदरसों के उन मुस्लिम स्नातकों की संस्था के नाम के रूप में किया जाता है जो वैयक्तिक अथवा सामूहिक रूप से फ़तवे के माध्यम से मुस्लिम संप्रदाय के जीवन को नियमित करते हैं।

क़ाज़ी : न्यायाधीश, विशेष रूप से वह जिसे राज्यसत्ता की ओर से शरीअः के नियमों के अनुसार मुकदमों का फ़ैसला करने के लिए नियुक्त किया गया हो।

क़ुरान : पैगम्बर मुहम्मद को ईश्वरादिष्ट ज्ञान का संग्रह।

खुला : छुटकारा; तकनीकी अर्थ में मुआवज़ा या किसी रक़म के बदले पत्नी द्वारा विवाह के बन्धन से प्राप्त किया गया छुटकारा।

जमाअत, जमीयत : दल, पार्टी।

ज़िहार : (शाब्दिक अर्थ 'पीठ के समान') एक प्रकार का कोसना जिसके फलस्वरूप पति-पत्नी का तब तक के लिए सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है जब तक कि उसका प्रायश्चित न किया जाय। इसकी सामान्य विधि यह है कि पति अपनी पत्नी से कहता है : "तू मेरे लिए मेरी माँ की पीठ के समान है। इस्लाम से पहले अरब मे ज़िहार को तलाक़ माना जाता था, लेकिन कुरान मे उसे बदलकर एक अस्थायी प्रतिबन्ध बना दिया गया, जिसके लिए प्रायश्चित करना आवश्यक था, अर्थात् एक गुलाम को आज़ाद कर देना, दो महीने तक उपवास करना, या साठ ग़रीबों को खाना खिलाना।

तफ़सीर : क़ुरान का भाष्य।

तलाक़ : विवाह-भंग, परित्याग।

तलाक़े-तफ़वीज़ : प्रत्यायुक्त तलाक़।

दर्से-निज़ामी : भारतीय मदरसों में शिक्षा का पाठ्यक्रम जिसके प्रवर्त्तक अवध के मुल्ला निज़ामुद्दीन (देहान्त 1748) थे।

दारुल-इफ़्ता : वह विभाग (किसी मदरसे का) जो इस्तिफ़्ता स्वीकार करता हो और फ़तवे देता हो।

दारुल-इस्लाम : मुस्लिम सांविधानिक सिद्धान्त के अनुसार वह देश जो मुस्लिम शासन के अधीन हो। इसके विपरीत दारुल-हर्ब उस देश को कहते है जो मुस्लिम शासन के अधीन न हो, और जो वास्तव में अथवा सम्भावित रूप से मुसलमानों के लिए युद्ध का केन्द्र हो, जब तक कि उस पर विजय प्राप्त करके उसे दारुल-इस्लाम न बना लिया जाय।

दारुल-उलूम : विद्या का घर, मदरसा।

फ़तवा : (बहु० फ़तावा) शरीअः के आधार पर किसी मुफ़्ती या आलिम या उलमा की संस्था द्वारा दिया गया प्रामाणिक मत।

फ़िक़्ह : इस्लामी न्यायशास्त्र, शरीअः की व्याख्या करने की विद्या।

फ़ुक़हा : ('फ़क़ीह' का बहुवचन) जिन्होंने फ़िक़्ह का अध्ययन किया हो; तकनीकी अर्थ में, वे आलिम जो फ़िक़्ह के विषय के विशेषज्ञ हों।

मदरसा : (शाब्दिक अर्थ 'शिक्षा देने का स्थान') मुस्लिम धार्मिक विद्यालय जहाँ मुख्यतः इस्लामी क़ानून तथा धर्मशास्त्र की शिक्षा दी जाती है; देखिये दारुल-उलूम।

मुफ़्ती : वह व्यक्ति जो फ़तवा देने की योग्यता तथा अधिकार रखता हो।

मुबारअत : 'पारस्परिक परित्याग', तलाक़ के क़ानून में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द जिसमें पुरुष अपनी पत्नी से कहता है : 'तेरे और मेरे बीच जो शादी हुई थी उससे मैं आज़ाद हो गया,' और पत्नी इस पर अपनी सहमति व्यक्त करती है। यह वही है जो खुला है।

मेहर : शादी के समय तय की गयी वह रकम या जायदाद जो पत्नी को देय होती है, जिसके बिना शादी क़ानूनी तौर पर जायज नही मानी जाती।

मौलाना : (शाब्दिक अर्थ 'मेरे मालिक') उलमा को सम्बोधित करने का सम्मानसूचक शब्द।

लिआन : एक-दूसरे को कोसना; एक प्रकार का तलाक जो निम्नलिखित परिस्थितियों में होता है : यदि कोई पुरुष अपनी पत्नी पर परपुरुषगमन का आरोप लगाता है और चार व्यक्तियों की साक्षी से उसे प्रमाणित नही करता है, तो उसे ख़ुदा के सामने चार बार क़सम खानी पड़ती है कि वह सच बोल रहा है और इसके बाद कहना पड़ता है : 'अगर मैं झूठ बोल रहा हूँ तो मुझ पर ख़ुदा का क़हर नाज़िल हो।' इसके बाद पत्नी चार बार कहती है : 'मैं ख़ुदा के सामने क़सम खाकर कहती हूँ कि मेरा शौहर झूठ बोल रहा है,' और फिर इसके बाद कहती है : 'अगर यह आदमी सच बोल रहा हो तो मुझ पर ख़ुदा का अताब नाज़िल हो।' इसके बाद

अपने आप तलाक़ हो जाता है। तलाक़ के अन्य रूपों की तरह इस प्रकार के तलाक में भी पत्नी अपना मेहर मांग सकती है।

शरीअ : इस्लाम के कानून जिनमें क़ुरान और हदीस पर आधारित वे सारे नियम-विनियम शामिल हैं जिनके अनुसार मुसलमानों का वैयक्तिक तथा सामुदायिक जीवन नियमित होता है।

सुन्न : पैग़म्बर मुहम्मद से सम्बन्धित प्रचलनों तथा परम्पराओं के अनुरूप जीवन-पद्धति।

सूफ़ी : मुस्लिम सन्त।

हदीस : पैग़म्बर मुहम्मद के वे कथन अथवा उनके वर्णित आचारण जो क़ुरान में तो शामिल नहीं हैं, परन्तु जिन्हें फ़िक़्ह का एक वैध स्रोत माना जाता है; इस प्रकार के कथनों तथा आचरणों के संग्रह; सुन्नः भी देखिये।

नोट : शब्दों की व्याख्या में बीच-बीच में जो शब्द काले अक्षरों में छपे हैं उनकी व्याख्या इस शब्दावली में अलग से भी दी गयी है।

ग्रन्थ-सूची

अकबराबादी, सईद अहमद : हिन्दुस्तान की शरी हैसियत, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, धर्म शिक्षा विभाग, 1968।

अमीनी, मुहम्मद तकी : अहकाम-ए-शरीअः मे हालात-ओ-जमाना की रियात, दिल्ली, नदवतुल-मुसन्नफ़ीन।

————मुलाक़ात-इ-अमीनी, अलीगढ़ यूनिवर्सिटी का प्रकाशन, 1970।

अहमद, अजीज : इस्लामिक मॉडर्निज्म इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, लन्दन, ऑक्सफ़ोर्ड, 1967।

अहमद, अजीज और जी० ई० फ़ॉन ग्रुनेबाम : मुस्लिम सेल्फ़ स्टेटमेंट इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, 1857-1968, ऑटो हैरेंसनिट्ज़, वीज़बाडन, 1970।

इंट्रोड्यूसिंग द जमात-ए-इस्लामी हिन्द, दिल्ली, जमात-ए-इस्लामी, 5वीं आवृत्ति, 1971।

इण्डिया एण्ड कण्टेम्परेरी इस्लाम (एक गोष्ठी का वृत्तान्त) सं० एस० टी० लोखाण्डवाल, शिमला, इण्डियन इंस्टिट्यूट ऑफ़ एडवास्ड स्टडी, 1971।

इब्राहीम, अहमद : इस्लामिक लॉ इन मलय, सं० शर्ले गॉर्डन, सिंगापुर, मलयेशियन सोशिओलॉजिकल रिसर्च इंस्टिट्यूट, 1965।

इस्लाम, पटियाला, पंजाबी यूनिवर्सिटी, 1969।

ऐंडर्सन, जे० एन० डी० : चेंजिंग लॉ इन डेवलपिंग कण्ट्रीज़, लन्दन, जॉर्ज ऐलन एण्ड अन्विन, 1963।

————इस्लामिक लॉ इन द मॉडर्न वर्ल्ड, लन्दन, 1959।

करण्डिकर, एम० ए०, इस्लाम इन इण्डियाज ट्रांजिशन टु मॉडर्निटी, बम्बई, ओरिएंट लॉगमैन्स, 1968।

करुणाकरन, के० पी० : रिलिजन एण्ड पोलिटिकल एवेकनिंग इन इण्डिया, मेरठ, मीनाक्षी, 1965।

चेंजिज इन मुस्लिम पर्सनल लॉ (इण्टरनेशनल कांग्रेस ऑफ़ ओरिएण्टलिस्ट्स के नई दिल्ली में, 9 जनवरी 1964 को हुए अधिवेशन पर आयोजित गोष्ठी का विवरण)।

जमात-ए-इस्लामी हिन्द : एक तआरुफ़, दिल्ली, जमात-ए-इस्लामी, दूसरी आवृत्ति, 1967।

टाइटस, मरे टी० : इस्लाम इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, कलकत्ता, वाई०, एम० सी० ए०, 1959।

तजवीज मजलिस-ए-तहक़ीक़ात-ए-शरीअः मुतल्लिक मसला-ए-रूयत-ए-हिलाल (लखनऊ, नदवतुल-उलमा के लिए मौलाना मुहम्मद इश्शाक़ स-दीलवी नदवी द्वारा संपादित)।

तैयबजी, एफ़० बी० : मुस्लिम लॉ : द पर्सनल लॉ ऑफ़ मुस्लिम्स इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, बम्बई, पाँचवी आवृत्ति, 1968।

दलवई, हमीद : मुस्लिम पॉलिटिक्स इन इण्डिया, बम्बई, नचिकेता, 1969।

नदवी, अब्दुल हलीम : मराकिज अल-मुस्लिमीन अल-तालीमीयः व अल-थका-फियः व अल-दीनियः फ़िल-हिन्द (अरबी में)। लेखक ने प्रकाशित की। जामियानगर, नई दिल्ली, 1967।

नदवी, सैयद अबुल हसन अली : मुस्लिम्स इन इण्डिया, मुहम्मद शफी किदवई, लखनऊ द्वारा उर्दू से अनूदित। एकेडेमी ऑफ इस्लामिक रिसर्च एण्ड पब्लिकेशन्स, 1960।

————वेस्टर्न सिविलिजेशन—इस्लाम एण्ड मुस्लिम्स, डॉ० मुहम्मद आसिफ किदवई द्वारा उर्दू से अनूदित। लखनऊ। एकेडेमी ऑफ़ इस्लामिक रिसर्च एण्ड पब्लिकेशन्स, 1969।

नोमानी, रशीद : टेक्स्ट बुक्स फ़ॉर सिक्यूलर इण्डिया, नई दिल्ली, साम्प्रदायिकता-विरोधी कमेटी, 1970।

बाइण्डर, लियोनार्ड : रिलिजन एण्ड पॉलिटिक्स इन पाकिस्तान, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफ़ोर्निया, 1961।

बेदार, आबिद रजा : सीमी की तलाश : हिन्दुस्तानी मुसलमानों के भारतीय-करण का मसला, नई दिल्ली, मुस्लिम प्रोग्रेसिव ग्रुप, 1970।

फजलुर रहमान : इस्लाम, लन्दन, वाइडेनफेल्ड एण्ड निकलसन, 1966।

फ़ॉन, ग्रुनेबाम, जी० ई० : मॉडर्न इस्लाम : द सर्च फ़ॉर कल्चरल आइडेंटिटी, यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया, 1962।

फ़ारुकी, जिया-उल-हसन : द देवबन्द स्कूल एण्ड द डिमाण्ड फ़ॉर पाकिस्तान, बम्बई, एशिया, 1963।

फ़िहरिस्त-ए-मदारिस-ए-अरबीयः, कलकत्ता, अंजुमन निदा-ए-इस्लाम, 1969, 1970।

फैजी, आसफ ए० ए० : केसिज इन मुहम्मडन लॉ ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, ऑक्सफ़ोर्ड 1965।
————ए मॉडर्न एप्रोच टु इस्लाम, बम्बई, एशिया, 1963।
————आउटलाइन्स ऑफ़ मुहम्मडन लॉ, ऑक्सफ़ोर्ड, तृतीय आवृत्ति, 1964।
————द रिफ़ार्म ऑफ़ मुस्लिम पर्सनल लॉ इन इण्डिया, बम्बई, नचिकेता, 1971।
महमूद, ताहिर : फ़ैमिली लॉ रिफ़ार्म इन मुस्लिम वर्ल्ड, नई दिल्ली, इण्डियन लॉ इंस्टिट्यूट, 1972।
मुजीब, एम० : द इण्डियन मुस्लिम्स, लन्दन, जार्ज एलन एण्ड अन्विन, 1967।
————इस्लामिक इन्फ्लुएंस ऑन इंडियन सोसायटी, मेरठ, मीनाक्षी, 1972।
मेलैण्ड, बर्नार्ड ई० : द सिक्युलराइजेशन ऑफ़ मॉडर्न कल्चर, न्यूयार्क ऑक्सफ़ोर्ड, 1966।
रज़ा खाँ, मुहम्मद : व्हट प्राइस फ्रीडम : ए हिस्टॉरिकल सर्वे ऑफ़ द पोलिटिकल ट्रेंड्स एण्ड कण्डीशन्स लीडिंग टु इण्डिपेंडेंस एण्ड द बर्थ ऑफ़ पाकिस्तान एण्ड आफ़्टर, मद्रास, द नूरी प्रेस, 1969।
राय, शान्तिमय : रोल ऑफ़ इण्डियन मुस्लिम्स इन द फ्रीडम मूवमेंट, नई दिल्ली, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 1970।
सतीफ़ी, दानियाल : जर्नल ऑफ़ कांस्टिट्यूशनल एण्ड पार्लियामेंटरी स्टडीज में। मुस्लिम पर्सनल लॉ रिफ़ार्म, नई दिल्ली 4/1, जनवरी-मार्च, 1970।
शम्स तबरेज खाँ : मुस्लिम पर्सनल लॉ और इस्लाम का आली निज़ाम, लखनऊ, मजलिस तहक़ीकात-ओ-नशरियात-ए-इस्लाम (दारुल-उलूम नदवतुल-उलमा), 1970।
शाख्ट, जे० : इंट्रोडक्शन टु इस्लामिक लॉ, ऑक्सफ़ोर्ड, 1964।
शाह, ए० बी० : चैलेंजिज टु सिक्युलियरिज्म, बम्बई, नचिकेता, 1968।
————कौ-स्लॉटर : हॉर्न्स ऑफ़ ए डिलेम्मा, बम्बई, 1967।
स्टडी ऑफ़ रिलिजन इन इण्डियन यूनिवर्सिटीज (सितम्बर 1967 में बेंगलोर में हुए सलाह-मशविरे की रिपोर्ट), बेंगलोर, 1969।
स्मिथ, डॉनल्ड यूजीन : इण्डिया एज ए सिक्युलर स्टेट, ऑक्सफ़ोर्ड, 1963।
स्मिथ, विल्फ्रेड कैंटवेल : इस्लाम इन मॉडर्न हिस्ट्री (मेंटर बुक) 1964।
————द मीनिंग एण्ड एँड ऑफ़ रिलिजन (मेंटर बुक) 1964।
————मॉडर्नाइजेशन ऑफ़ ए ट्रेडीशनल सोसायटी, बम्बई, एशिया, 1965।

स्मार्ट, निनियन : सिक्युलर एजुकेशन एण्ड द लॉजिक ऑफ़ रिलिजन, लन्दन, फ़ेबर एण्ड फ़ेबर, 1968।
सभली, मुहम्मद बुरहानुद्दीन : रुयत-ए-हिलाल का मसला : अस्र-ए-हाजिर के वसैल और तरक़्क़ियात की रोशनी में, लखनऊ, लखनऊ मजलिस तहक़ीक़ात-ए-शरीअ:, नदवतुल उलमा, 1971।
सिन्हा, वी० के० (सं०) : सिक्युलियरिज्म इन इण्डिया, बम्बई, लालवानी, 1968।
हक़, मुशीर-उल, मुस्लिम पॉलिटिक्स इन मॉडर्न इण्डिया, मेरठ, मीनाक्षी, 1970।
हुसनैन, एस० ई० : इण्डियन मुस्लिम्स : चेलेंज एण्ड अपॉरच्युनिटी, बम्बई, लालवानी, 1968।
हुसैन, एस० आबिद : द डेस्टिनी ऑफ़ इण्डियन मुस्लिम्स, बम्बई, एशिया, 1965।
————इण्डियन कल्चर, बम्बई, एशिया, 1963।
————द नेशनल कल्चर, बम्बई, एशिया, 1961।

पत्रिकाएँ

अज़ाइम, लखनऊ
अल-जमीयत, दिल्ली
अल-फ़ुरक़ान, (लखनऊ)
इस्लाम एण्ड द मॉडर्न एज, नई दिल्ली
इस्लाम और अस्र-ए-जदीद, नई दिल्ली
इस्लामिक थॉट, अलीगढ
क्वेस्ट, बम्बई
क़ायद, इलाहाबाद (बन्द हो चुका है)
जामिया, नई दिल्ली
दावत, दिल्ली
निदा-ए-मिल्लत, लखनऊ
बुरहान, दिल्ली
मारिफ, आज़मगढ
रेडिएन्स, दिल्ली
सिक्यूलर डिमोक्रेसी, नई दिल्ली
सिदक़-ए-जदीद, लखनऊ
तामीर-ए-हयात, लखनऊ
ह्यूमेनिस्ट रिव्यू, (बम्बई)

अनुक्रमणिका